बंकिम-
निबंधावली

—बंकिमचन्द्र चटर्जी

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका १८ वाँ ग्रन्थ

बंकिम-निबन्धावली

(स्व० बंकिमचन्द्र चटर्जीके श्रेष्ठ निबन्ध)

अनुवादकर्त्ता
पण्डित रूपनारायण पाण्डेय

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ४.

अक्टूबर, १९५२

मूल्य १॥)

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
गिरगाँव, बम्बई नं. ४

निवेदन

सन् १९२८ मे इस निबन्धावलीका तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था और लगभग तीन वर्ष पहले वह समाप्त हो गया था। यदि उस्मानिया यूनीवर्सिटी इसे अपने बी० ए० के पाठ्यक्रममे स्थान न देती और हरिद्वारके गुरुकुल विश्वविद्यालयमे यह स्वीकृत न होती, तो शायद अब भी इसका यह चौथा संस्करण प्रकाशित न होता यद्यपि साधारण पाठकोंकी थोड़ी-बहुत माँग इसके लिए थी ही।

इस संस्करणमे साख्यदर्शन नामका निबन्ध अधिक गंभीर होनेका कारण नहीं रक्खा गया और कुछ निबन्धोंको सामयिक होनेके कारण छोड दिया गया है।

इन निबन्धोंमें हमें जहाँ तहाँ कुछ परिवर्तनकी आवश्यकता अनुभव होती है क्योंकि जिस समय स्व० बंकिमचन्द्रने इनको लिखा था उस समय और आजके समयमे बहुत अन्तर पड़ चुका है परन्तु इस परिवर्तनके बावजूद भी हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमे लेखककी अपनी ही शैली है और विचार करनेकी अपनी ही एक पद्धति है। ये निबन्ध जहाँ अन्य दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण हैं वहाँ कला, शैली और साहित्यकी दृष्टिसे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। निबन्ध लिखनेकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमे लेखकके व्यक्तित्वका अनुभव होना चाहिए। बंकिमके निबन्धोंमे उनके हृदयकी धडकन स्पष्टतया अनुभव होती है और उनके लिखनेकी कलाका परिचय मिलता है। बंकिमबाबू जहाँ एक महान् उपन्यासकार और कवि थे वहाँ एक प्रौढ़ निबन्धकार भी थे। उन्होंने अपने निबन्धोंको कई शैलियोंमें लिखा है। कहीं वार्ताके रूपमें, कहीं छोटेसे नाटकके रूपमें, कहीं कथाके रूपमें और कहीं लेखके रूपमें। परन्तु उनके इन सभी रूपोंमें उनकी रसिकता, विदग्धता, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, गंभीरता, अध्ययन, निरीक्षण, हास्य और विनोदप्रियता आदिका परिचय मिलता है।

बंकिमबाबू बंगालके ही नहीं, सारे भारतके महान् साहित्यिक, स्रष्टा और युग पुरुष थे।

आशा है, अब भी साहित्य-संसारमें उनकी इस निबन्धावलीका आदर किया जायगा।

बम्बई, १८–१०–५२ —**प्रकाशक**

निबन्ध–सूची

बंकिम-निबन्धावली

धर्म और साहित्य

मैं 'प्रचार' (मासिकपत्र) का एक लेखक हूँ, यह जानकर 'प्रचार'-के एक पाठकने मुझसे कहा—प्रचारमें इतने अधिक धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध अच्छे नहीं लगते। जबतक एक-दो बातें हम लोगोंके कामकी न हों तबतक जी नहीं लग सकता।

मैंने कहा—क्यों, उपन्यासमें भी क्या तुम्हारा जी नहीं लगता? उसकी तो प्रत्येक संख्यामें उपन्यास प्रकाशित होता रहता है।

उन्होंने कहा—केवल वही एक न?

प्रचारके २४ पृष्ठ होते हैं। आठ पेजके लगभग उपन्यास होता है। वह भी पाठकोंके मनोविनोदके लिए काफी नहीं! आठ-नौ पेजोंके बाद दो एक पृष्ठ कविता भी निकल जाती है। एक कोनेमें एक दो धर्मसम्बन्धी लेख भी पड़े रहते हैं। तथापि इस पाठकके लिए उतनी धर्मचर्चा भी रुचिकर नहीं है। शायद कुछ और पाठक भी ऐसे निकलेंगे, जिन्हें धर्मचर्चा कड़वी लगती है। इस प्रबन्धका उद्देश्य केवल इसी प्रश्नपर विचार करना है कि धर्मचर्चा क्यों कड़वी लगती है और उपन्यास आमोद-प्रमोद क्यों अधिक रुचते हैं?

हमारी इच्छा यह है कि पाठकगण आप ही जरा सोचकर इन प्रश्नोंका उत्तर ठीक करें। स्वयं अपनी बुद्धिसे काम लेकर निश्चय करनेमें उनका जितना उपकार होगा, उतना उपकार किसीकी शिक्षासे नहीं हो सकता। इस विचारके काममें हम उन्हें सहायता अवश्य देंगे।

यह अवश्य है कि साधारण धर्मशिक्षकोंके द्वारा पृथ्वीपर जिस रूपमें धर्मकी स्थापना हुई है वह प्रीतिकर नहीं है। इस देशके आधुनिक धर्माचार्य जिस हिन्दू धर्मकी व्याख्या और रक्षा करते हैं उसकी मूर्ति भयानक है। आजकलके अध्यापक और पुरोहित महाशयोंकी समझमें व्रत, प्रायश्चित्त, पृथ्वीके सब सुखोंके प्रति वैराग्य और अपनेको पीड़ित करना ही धर्म है। गर्मियोंमें बहुत ही गर्मी और प्यासके मारे अगर थोड़ा-सा बर्फका पानी मैंने पी लिया, तो मेरा धर्म नष्ट हो गया! ज्वर चढ़ा हुआ है, मैं पलँगपर पड़ा हुआ हूँ, कष्टके मारे दम निकला जा रहा है, डाक्टरने मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिए अगर ओषधिके साथ चार पाँच बूँद ब्राण्डी दे दी, तो बस मेरा धर्म नष्ट हो गया! आठ नव वर्षकी लड़की विधवा हो गई; जिस ब्रह्मचर्यके बारेमें वह कुछ नहीं जानती और जिस ब्रह्मचर्यका पालन साठ वर्षकी बुढ़ियाके लिए भी कठिन है, उसी ब्रह्मचर्यके द्वारा पीड़ा पहुँचाकर उस बालिकाको रुलाये बिना धर्मकी रक्षा नहीं हो सकती! धर्मोपार्जन करना हो तो पुरोहितका घर भरो, गुरुको दो, बेकार, स्वार्थपर, लोभी, कुकर्मी, भिक्षुक ब्राह्मणोंको दो। महाकष्टसे कमाया हुआ अपना धन कुपात्रों और अपात्रोंको दे डालो। यह मूर्ति धर्मकी मूर्ति नहीं है—यह एक उत्कट पैशाचिक कल्पना है। तथापि लड़कपनसे हम इसीका नाम धर्म सुनते आते हैं। पाठकोंका इससे पिशाच या राक्षसकी तरह डरना कुछ असंगत नहीं है।

जो लोग शिक्षित हैं, अर्थात् जिन्होंने अँगरेजी पढ़ी है, वे इसे तो धर्म नहीं मानते, किन्तु वे और एक आफतमें फँस गये हैं। उन्होंने अँगरेजीके साथ ईसाई धर्म भी सीख लिया है। उस शिक्षाके लिए बाइबल नहीं पढ़नी पड़ती। विलायती साहित्य ही उस धर्मसे सराबोर

है। हम लोग ईसाई धर्मका नाम सुनते ही उसी धर्मको समझते हैं। किन्तु उसकी और भी भयंकर मूर्ति है। परमेश्वरका नाम लेते ही ईसाइयोंके परमेश्वरका स्मरण हो आता है। परन्तु वह ईसाइयोंका परमेश्वर इस पवित्र नामके सर्वथा अयोग्य है। इसमें सन्देह नहीं कि वह विश्व-संसारका राजा है, लेकिन इसमें भी सन्देह नही कि कोई नर-पिशाच भी वैसा प्रजापीडक, अत्याचारी और विचारशून्य नहीं हो सकता। वह क्षणिक और अत्यन्त क्षुद्र अपराधके लिए मनुष्यको चिर-स्थायी दण्ड देता है। छोटे बड़े सभी पापोंके लिए अनन्त नरककी व्यवस्था करता है। निष्पाप पुरुष भी, अगर वह ईसाई न हो तो उसके लिए अनन्त नरक-भोगका विधान है। जिसने कभी ईसाका नाम नहीं सुना, इसी कारण ईसाई होना जिसके लिए असम्भव है, उसे भी इस अपराधके लिए अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। जो हिन्दूके घर पैदा हुआ है उसका हिन्दूके घर पैदा होनेमें कुछ भी दोष नहीं है। ईश्वरने उसे जहाँ भेजा वहीं वह आया। इसमें अगर कुछ दोष है तो वह ईश्वरका है। तथापि इस दोषके लिए उस गरीबको अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। जो ईसाके पहले पैदा हुआ था और इसी कारण ईसाई धर्मको नहीं ग्रहण कर सका, उसे भी ईश्वरकृत जन्म-दोषके लिए अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। ईसाइयोंके इस अत्याचारी परमेश्वरका एक काम यही है कि वह दिन-रात सब लोगोंके हृदयमें झाँक झाँक कर देखा करता है कि किसने कब क्या पाप-संकल्प किया। जिसमें जरा भी पाप-संकल्प देख पाया, उसके लिए उसी दम अनन्त नरककी व्यवस्था कर दी। जो लोग इस धर्मके चक्करमें पड़े हैं, वे सदा उसी भारी विषादके भयसे सटपटाये रहते हैं और जीवन्मृत अवस्थामें अपना जीवन बिताते हैं। पृथ्वीका कोई भी सुख उनके लिए सुख नहीं [illegible]

धर्मको धर्म कहना सीखा है, उन्हें धर्मके नामसे बुखार चढ़ आना सर्वथा संगत है।

साधारण धर्म-प्रचारकोंके इन दोषोंसे ही धर्मकी आलोचनासे सर्व साधारण लोग इतने विमुख देख पड़ते हैं—वे उस ओर अपनी ऐसी अरुचि दिखाते हैं। नहीं तो धर्मकी मूर्ति ऐसी मनोहर है कि सब छोड़कर धर्मकी आलोचनामें ही लोगोंको अधिक अनुराग होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जगतमें लोग धर्मको मनोहर और प्रिय ही समझते हैं। केवल यहाँके ही रुचिविकार-ग्रस्त पाठकोंमें यह बात नहीं पाई जाती। वे अगर विचार करके देखें तो उन्हें देख पड़ेगा कि हिन्दू और ईसाइयोंके दोषसे जो धर्मकी विकृत मूर्ति उन्होंने देखी है वह धर्म नहीं, अधर्म है। धर्मकी मूर्ति बहुत ही मनोहर है। ईश्वर प्रजाको पीड़ा नहीं पहुँचाता। वह प्रजापालक है। अपने आत्माको पीड़ा पहुँचाना धर्म नहीं है। अपनी उन्नति करना, अपने आनन्दको बढ़ाना ही धर्म है। ईश्वरकी भक्ति, मनुष्यके प्रति प्रीति और हृदयमें शान्ति ही धर्म है। भक्ति, प्रीति और शान्ति—इन तीन शब्दोंसे जो मोहिनी मूर्ति बनती है जगतमें उससे बढ़कर मनोहर और क्या हो सकता है? उसे छोड़कर और किस विषयकी आलोचना करनेको जी चाहेगा?

जो लोग नाटक-उपन्यास पढ़ना बहुत पसन्द करते हैं, उन्हें एक बार अपने मनमें विचार करके देखना चाहिए कि वे किस आकांक्षासे नाटक-उपन्यास पढ़ते हैं। यदि वे नाटक-उपन्यासोंकी विचित्र विस्मय-जनक घटनाओंसे मनोविनोद करनेके लिए उन्हें पढ़ते हैं, तो मैं उनसे पूछता हूँ कि विश्वेश्वरकी इस विश्वसृष्टिकी अपेक्षा अधिक विस्मयजनक घटना किस भाषाके साहित्यमें वर्णन की गई है? एक तृण या एक मक्खीके परमें जितना विचित्र कौशल है उतना कौशल किस उपन्यास-

लेखककी रचनामें पाया जाता है ? और इस श्रेणीके पाठकोंकी अपेक्षा और ऊँचे दर्जेके जो पाठक हैं—जो कविकी कल्पना-सृष्टिके लोभसे साहित्यके प्रति अनुरक्त हैं, उनसे मैं पूछता हूँ कि ईश्वरकी सृष्टिकी अपेक्षा किस कविकी सृष्टि सुन्दर है ? वास्तवमें देखा जाय तो उस ईश्वरकी सृष्टिका अनुकरण होनेके कारण ही कविकी सृष्टि सुन्दर जान पड़ती है। नकल कभी असलकी बराबरी नहीं कर सकती। धर्मकी मोहिनी मूर्तिके आगे साहित्यका प्रभाव हीन पड़ जाता है।

पाठक कहेंगे कि "यह बात सत्य नहीं हो सकती। क्योंकि हमें उपन्यास-नाटक पढ़नेकी इच्छा होती है और पढ़कर हम आनन्द भी पाते हैं। धार्मिक प्रबन्ध पढ़नेकी इच्छा नहीं होती और आनन्द भी नहीं मिलता।" इसका उत्तर बहुत ही सहज है। तुमको साहित्य पढ़नेका अनुराग है और तुमको उसमें आनन्द भी मिलता है, तो इसका कारण यह है कि जिन वृत्तियोंका अनुशीलन करनेसे साहित्यका मर्म ग्रहण किया जाता है, तुम सदासे उन वृत्तियोंका अनुशीलन करते आते हो, इसी कारण उससे तुमको आनन्द मिलता है। जिन वृत्तियोंके अनुशीलनसे धर्मका मर्म ग्रहण किया जाता है, तुमने उनका अनुशीलन नहीं किया। यही कारण है कि उनकी आलोचनामें तुमको आनन्द नहीं मिलता। लेकिन इस समय उनकी आलोचनाकी बड़ी जरूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकी आलोचनामें सुख है, किन्तु जो सुख तुम्हारा उद्देश्य और प्राप्य होना उचित है उसका वह (साहित्यका सुख) एक क्षुद्र अंशमात्र है। साहित्य भी धर्मको छोड़कर नहीं है। क्योंकि साहित्यकी जड़ सत्य है और जो सत्य है वही धर्म है। यदि कोई ऐसा कुत्सित साहित्य हो जिसकी जड़ असत्य और अधर्म हो, तो उसे पढ़नेमें दुरात्मा और

विकृतरुचि पाठकोंके सिवा और किसीको सुख नहीं मिल सकता। किन्तु साहित्यका सत्य और धर्म भी पूर्ण नहीं है; वह पूर्ण धर्मका एक अंशमात्र है। अतएव केवल साहित्य नहीं, किन्तु वह महान् तत्त्व धर्म, जिसका अंश साहित्यमें है, आलोचनाके योग्य है। साहित्यको मत छोड़ो, साहित्यकी सीढ़ीपर पैर रखकर धर्मके मञ्चपर चढ़ो।

लेकिन यह भी स्मरण रहना चाहिए कि आरंभमें कुछ दुःख या कष्ट उठाये विना कोई भी सुख नहीं प्राप्त होता। विलासी और पापी लोग जिस इन्द्रियतृप्तिको ही सुख समझते हैं उसकी भी सामग्री यत्न और कष्टसे प्राप्त होती है। धर्मालोचनका जो असीम और अनिर्वचनीय आनन्द है, उसके उपभोगके लिए प्रयोजनीय जो धर्ममन्दिरकी निचली सीढ़ीमें कठिन कर्कश पत्थर सदृश तत्त्व हैं उन्हें पहले अपने वशमें करो। अतएव आरंभमें धर्मविषयक लेख रूखे और कठिन जान पड़नेपर भी उनके प्रति अनादर करना उचित नहीं।

काम

हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोंमें 'काम' शब्दका सदा व्यवहार हुआ करता है। जो कामात्मा या कामार्थी है, उसकी बारम्बार निन्दा की गई है। किन्तु साधारण पाठक इस 'काम' शब्दका अर्थ समझनेमें बड़ी गड़बड़ किया करते हैं। इसी कारण वे सर्वत्र शास्त्रका ठीक ठीक तात्पर्य नहीं समझ सकते। वे साधारणतः किसी विशेष इन्द्रियकी तृप्तिकी इच्छाके अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया करते हैं। वे समझते हैं कि शास्त्रमें भी इसी अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया गया है। किन्तु यह उनका

भ्रम है। महाभारतसे दो-एक श्लोक उद्धृत करके यहाँपर काम शब्दका अर्थ समझानेकी चेष्टा की जाती है।

"पाँच इन्द्रिय, मन और हृदय अपने विषयमें वर्त्तमान रहकर जो प्रीति प्राप्त करते हैं उसीका नाम काम है।" (—वनपर्व, ३३ वाँ अध्याय)

यह काम एकदम निन्दाके योग्य नहीं ठहरता। मन और हृदय न कहकर अगर केवल पाँच इन्द्रियोंकी बात कही जाती तो समझा जाता कि इन्द्रियवश्यता (Sensuality) रूप कुप्रवृत्तिका नाम काम है। किन्तु 'मन और हृदय' का उल्लेख रहनेसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। महाभारतमें ही दूसरे स्थानपर कहा गया है कि "माला चन्दन आदि पदार्थोंके स्पर्श या सुवर्णादि पदार्थोंके लाभसे मनुष्यको जो प्रसन्नता होती है, उसीका नाम काम है।"

इससे यह देखा जाता है कि एक तो वह किसी प्रकारकी प्रवृत्ति या वृत्ति नहीं है; प्रवृत्ति या वृत्तिकी तृप्तिकी अवस्थामात्र है। दूसरे वह सर्वदा निन्दनीय या निन्दित सुख नहीं है। वह भले-बुरे कर्मोंका फलमात्र है। इसी कारण पीछेसे कहा गया है कि वही कर्मका एक उत्कृष्ट फल है। मनुष्य इसी तरह धर्म, अर्थ और कामके ऊपर अलग अलग दृष्टिपात करके केवल धर्मपर या कामपर न हो। निरन्तर समान-भावसे उसे इस त्रिवर्गका अनुशीलन करना चाहिए। शास्त्रमें कहा गया है कि पहले प्रहरमें धर्मानुष्ठान, दूसरे प्रहरमें धनोपार्जन और तीसरे पहरमें कामभोग करना उचित है।

'केवल धर्मपर न होना चाहिए,' ऐसी बात सुननेसे एकाएक यह जान पड़ता है कि उपदेश देनेवाला आदमी या तो घोर अधर्मी है और या धर्मशब्दका किसी विशेष अर्थमें व्यवहार कर रहा है। यहाँपर ये दोनों बातें कुछ कुछ सच है। यहाँपर वक्ता स्वयं भीमसेन है। वे अधर्मी

नहीं हैं, किन्तु युधिष्ठिर या अर्जुनकी तरह धर्मके सबसे ऊँचे सोपानपर नहीं पहुंच सके हैं और धर्म शब्दका व्यवहार भी यहाँ उन्होंने विशेष अर्थमें किया है। उनकी एक बातसे ही यह समझमें आजाता है। वे इसके बाद ही कहते है—"दान, यज्ञ, साधु-पूजा, वेदपाठ और सरलता—ये ही कई एक प्रधान धर्म हैं।"

वास्तवमें हम इस समय जिसे धर्म कहते हैं वह दो प्रकारका है। एक अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला और दूसरा औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला। औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म ही धर्मका प्रधान अंश है। किन्तु अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म भी धर्म है, और वह एकदम तजने योग्य नहीं है। मैं दूसरेको सुखी रखकर अगर आप भी सुखसे रह सकता हूँ, तो उसे छोड़कर इच्छापूर्वक क्यों कष्ट उठाऊंगा ? इच्छापूर्वक व्यर्थ कष्ट उठाना भी अधर्म है। यहाँपर भीमसेन दूसरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मको ही धर्म और अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मके फलभोगको काम कह रहे हैं, यह समझ लेनेसे 'केवल धर्मपर न होना चाहिए' यह उक्ति युक्तिसंगत जान पड़ती है।

किन्तु वास्तवमें धर्मके दो विभाग—आत्मसम्बन्धी और परसम्बन्धी—करना ठीक नहीं है। धर्म एक है। धर्ममात्रका अपनेसे और औरोंसे सम्बन्ध है। बहुत लोगोंका मत है कि धर्म केवल औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला ही होना चाहिए। किन्तु ईसाई आदि कुछ लोगोंका कहना है कि जिससे हम लोग परलोकमें सद्गति प्राप्त कर सकें, वही—केवल आत्मसम्बन्धी ही—धर्म है।

लेकिन असल बात तो यह है कि धर्मका सम्बन्ध न केवल अपनेसे है और न केवल औरोंसे। हृदयकी सब वृत्तियोंका उचित अनुशीलन और परिणति ही धर्म है। यह काम अपने या औरोंके लिए नहीं, धर्म

समझ कर ही करना चाहिए। उन वृत्तियोंका सम्बन्ध अपनेसे भी है और औरोंसे भी है। उनके अनुशीलनसे स्वार्थ और परार्थ एकसाथ सिद्ध होते हैं। मतलब यह है कि धर्मको इस प्रकारसे समझकर स्वार्थ और परार्थका भेद मिटा देना ही इस अनुशीलनवादका एक उद्देश्य है। मैंने अपने लिखे 'धर्मतत्त्व' नामके निबन्धमें यह अनुशीलनवाद समझाया है।

ज्ञान

भारतवर्षमें 'दर्शन' किसे कहते हैं, इसका उत्तर देनेसे पहले यह समझना होगा कि यूरोपमें, जिस अर्थमें, 'फिलासफी' शब्दका व्यवहार होता है उस अर्थमें 'दर्शन' शब्दका व्यवहार नहीं होता। वास्तवमें फिलासफी शब्दका कोई एक ठीक अर्थ नहीं है। कभी इसका अर्थ अध्यात्म, कभी प्राकृतिक विज्ञान, कभी धर्मनीति और कभी विचार-विद्या होता है। इनमेंसे एक भी अर्थ दर्शन शब्दके अर्थके अनुरूप नहीं। फिलासफीका उद्देश्य ज्ञानविशेष है; इसके सिवा उसका और कोई उद्देश्य नहीं है। दर्शनका भी उद्देश्य ज्ञान है सही, किन्तु उस ज्ञानका भी उद्देश्य है। वह उद्देश्य, निःश्रेयस, मुक्ति, निर्वाण या अथवा ऐसे ही किसी दूसरे नामसे युक्त अवस्था है। यूरोपकी फिलासफीका साधनीय ज्ञान ही है, पर दर्शनमें ज्ञान साधन मात्र है। इसके सिवा दोनोंमें एक और भारी भेद है। फिलासफीका उद्देश्य ज्ञानविशेष—कभी आध्यात्मिक, कभी भौतिक, कभी नैतिक और कभी सामाजिक ज्ञान—है। किन्तु सर्वत्र पदार्थमात्रका ज्ञान ही दर्शनका उद्देश्य है। इस कारण सभी प्रकारके ज्ञान दर्शनके अन्तर्गत हैं।

संसार दुःखमय है। प्राकृतिक बल सदा मनुष्यके सुखदुःखका प्रति-द्वन्द्वी है। तुम जो कुछ सुख भोगते हो, उसे बाह्य प्रकृतिके साथ युद्ध करके प्राप्त करते हो। मनुष्य-जीवन प्रकृतिके साथकी लम्बी लड़ाई मात्र है। जब तुम समरमें जय पाते हो तब तुमको कुछ सुख प्राप्त होता है। किन्तु मनुष्य-बलकी अपेक्षा प्राकृतिक बल अनेकगुणा भारी है। अतएव मनुष्यकी जय कभी कभी होती है और प्रकृतिकी जय नित्य निरन्तर हुआ करती है। तब तो मनुष्य-जीवन या जन्म यन्त्रणामय ही है। उसपर आर्य लोगोंके मतके अनुसार वह जन्म बारबार मिलता है। इस जन्ममें किसी तरह अनन्त दुःख भोगकर, प्राकृतिक युद्धमें अन्तको परास्त होकर, यदि जीवने देह-त्याग किया तो भी क्षमा नहीं है। फिर जन्म ग्रहण करना होगा, फिर अनन्त दुःख भोगना होगा, फिर मरना होगा, फिर जन्म लेना होगा। फिर उसी दुःखका सामना है। इस अनन्त दुःखकी क्या निवृत्ति नहीं है? मनुष्यका निस्तार नहीं है?

इसके दो उत्तर हैं। एक उत्तर यूरोपका है और दूसरा भारत-वर्षका। यूरोपके लोग कहते हैं कि प्रकृति जीती जा सकती है। जिससे प्रकृति पर जय पा सको, वही चेष्टा करो। इस जीवन-संग्राममें प्रकृतिको परास्त करनेके लिए शस्त्र-संग्रह करो। प्रकृतिसे पूछने पर वह खुद उन शस्त्रोंको बतला देगी। प्राकृतिक तत्त्वोंका अध्ययन करो। प्रकृतिके गुप्त तत्त्वोंको जानकर उन्हींके बलसे प्रकृतिको जीतकर मनुष्य-जीवनको सुखमय बनाओ। इस उत्तरका फल यूरोपका विज्ञानशास्त्र है।

भारतवर्षका उत्तर यह है कि प्रकृति अजेय है। जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक दुःख भी रहेगा। अतएव प्रकृतिसे सम्बन्ध न रखना ही दुःखनिवारणका एक मात्र उपाय है। वह सम्बन्धविच्छेद

केवल ज्ञानके ही द्वारा हो सकता है। इस उत्तरके फल भारतके दर्शनशास्त्र हैं।

वह ज्ञान क्या है? आकाश-कुसुम कहनेसे भी तो एक ज्ञान होता है। क्योंकि आकाश क्या है सो हम जानते हैं और कुसुम क्या है सो भी जानते हैं। मनकी शक्तिके द्वारा दोनोंका संयोग कर सकते हैं। किन्तु ऐसा ज्ञान दर्शनका उद्देश्य नहीं है। यह भ्रम-ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान ही दर्शनका उद्देश्य है। इस यथार्थ ज्ञानको प्रमा-ज्ञान या प्रमा-प्रतीति कहते है। यह यथार्थ ज्ञान क्या है?

जो जानते हैं वही ज्ञान है। जो जानते हैं उसे किस तरह जाना है?

कुछ विषयोंको इन्द्रियोंके साक्षात् संयोगसे जान सकते हैं। यह घर, यह वृक्ष, यह नदी, यह पर्वत हमारे सामने हैं। इनको हम आँखोंसे देख रहे हैं। इस लिए हम जानते हैं कि यह घर, यह वृक्ष, यह नदी, यह पर्वत है। अतएव ज्ञातव्य पदार्थके साथ चक्षु इन्द्रियके संयोगसे हमें उक्त ज्ञान प्राप्त हुआ *। इसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी तरह घरमें रहकर हमने सुना कि मेघ गरज रहे हैं, पक्षी बोल रहे हैं। यहाँपर मेघके शब्द और पक्षीके बोलनेका कानोंके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। यह श्रवणेन्द्रियका प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार चक्षु, श्रवण, घ्राण, त्वचा और रसना इन पाँच इन्द्रियोंके द्वारा पाँच प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आर्य दर्शनिकोंने मनकी भी गिनती इन्द्रियोंमें की है। अतएव

---

* गृह-पर्वत आदि दूर हैं, हमारी आँखोंसे लगे हुए नहीं हैं, तो फिर इन्द्रियसे उनका संयोग किस तरह हुआ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि दृष्ट पदार्थपर किरणें पड़ती हैं और वे किरणें वहाँसे पलटकर जब हमारे नेत्रोंमें प्रवेश करती हैं तब वह पदार्थ हमें दीख पड़ता है।

वे मानस-प्रत्यक्ष भी मानते हैं। मन बाह्य इन्द्रिय नहीं है। भीतरी इन्द्रियके साथ बाहरी विषयका संयोग असंभव है। अतएव मानस-प्रत्यक्षसे बाह्य विषय नहीं जाना जा सकता। किन्तु अन्तर्ज्ञान मानस-प्रत्यक्षके ही द्वारा हुआ करता है।

जो पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, उसके विषयमें हमें ज्ञान होता है किन्तु प्रत्यक्षके बिना भी हमारा विषयका ज्ञान सूचित होता है। मैं जिसके किवाड़े बंद हैं उस कोठरीमें सोया हुआ हूँ। इसी समय मेघका शब्द सुन पड़ा। इससे श्रावण-प्रत्यक्ष या श्रवणसम्बन्धी प्रत्यक्ष हुआ। किन्तु यह प्रत्यक्ष ध्वनिका है, मेघका नहीं। मेघ यहाँपर हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं है। तथापि हमको मालूम हो गया कि आकाशमें मेघ हैं। ध्वनिके प्रत्यक्षसे मेघके अस्तित्वका ज्ञान कहाँसे हुआ? हम पहले बहुत बार देख चुके हैं कि आकाशमें मेघके सिवा कभी ध्वनि नहीं होती। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मेघ न हो और ऐसी ध्वनि सुन पड़े। अतएव बंद दरवाजेवाली कोठरीमें रहकर भी हम बिना प्रत्यक्षके जान गये कि आकाशमें मेघ है। इसको अनुमिति या अनुमान कहते हैं। मेघकी ध्वनिको हमने प्रत्यक्ष सुनकर जाना, और मेघको अनुमानके द्वारा।

मान लो, बंद दरवाजेवाली कोठरीमें अन्धकार है और उसके भीतर तुम अकेले हो। इसी समय तुमने शरीरके साथ अन्य किसी मनुष्यके शरीरके स्पर्शका अनुभव किया। उस समय कुछ देखे बिना ही तुमने जान लिया कि कोठरीके भीतर मनुष्य आया है। वह स्पर्शका ज्ञान त्वचाका प्रत्यक्ष है, किन्तु कोठरीके भीतर मनुष्यका ज्ञान अनुमान है। उस अँधेरी कोठरीमें तुम यदि जूहीके फूलकी महक पाओगे तो समझोगे कि वहाँ पुष्प आदि हैं। यहाँ गन्ध ही प्रत्यक्षका विषय है। पुष्प अनुमानका विषय है।

मनुष्य बहुत ही थोड़ी बातोंमें स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है। अधिकांश ज्ञान अनुमानपर ही निर्भर है। अनुमान शक्ति न होती तो हम प्रायः कोई कार्य न कर सकते। विज्ञान दर्शन आदि अनुमानके ऊपर ही बने हैं।

किन्तु जैसे कोई मनुष्य सब विषयोंका स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, वैसे ही कोई व्यक्ति सब तत्त्वोंको स्वयं अनुमान करके सिद्ध नहीं कर सकता। ऐसे अनेक विषय है कि अनुमान करके उन्हें जाननेमें जितने परिश्रमकी आवश्यकता है उतना परिश्रम एक मनुष्य अपने जीवन-भरमें कर ही नहीं सकता। ऐसे अनेक विषय हैं कि उन्हें अनुमानके द्वारा सिद्ध करनेके लिए जिस विद्या, जिस ज्ञान, जिस बुद्धि और जिस तत्परताका प्रयोजन है वह विद्या, बुद्धि, ज्ञान और तत्परता अधिकांश लोगोंमें नहीं देखी जाती। अतएव यह मानना पड़ेगा कि ऐसे अनेक अत्यन्त प्रयोजनीय विषय हैं कि बहुत लोग स्वयंप्रत्यक्ष या अनुमानके द्वारा उन्हें जान नहीं सकते। ऐसे मौके पर हम लोग क्या करते हैं? जिसने उस विषयको स्वयं प्रत्यक्ष किया है या उसका अनुमान किया है, उसकी बात सुनकर उसपर विश्वास करते हैं। इटलीदेशके उत्तरमें जो 'आल्पस' नामकी पर्वतश्रेणी हैं उसे तुमने प्रत्यक्ष नहीं देखा। किन्तु जिन्होंने देखा है उनकी लिखी पुस्तक पढ़कर तुमको उसका ज्ञान प्राप्त हुआ। परमाणुमात्र अन्य परमाणुओंके द्वारा आकृष्ट होते हैं। यह प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता और तुम भी इसे गणनाके द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते। इस कारण तुमने 'न्यूटन' की बातपर विश्वास करके यह ज्ञान प्राप्त किया।

न्याय, सांख्य आदि आर्योंके दर्शनशास्त्रोंमें इसे एक तीसरा प्रमाण माना हैं। यह शब्द-प्रमाण हैं। उक्त दर्शनकारोंकी समझमें वेद आदिकी

प्रामाणिकता इसी प्रमाणपर निर्भर है। आप्तवाक्य या गुरुका उपदेश साधारणतः विश्वासके योग्य है। आर्य लोगोंके मतसे यह भी एक स्वतन्त्र प्रमाण हैं। इसीका नाम शब्द-प्रमाण हैं।

किन्तु चार्वाक आदि कुछ आर्य दार्शनिक इसे प्रमाण नहीं मानते। यूरोपके दार्शनिक भी इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण माननेके लिए तयार नहीं है।

साधारणतः देखा जाता है कि सबकी बातोंपर विश्वास करना अकर्त्तव्य है। यदि कोई प्रसिद्ध मिथ्यावादी आकर कहे कि वह जलमें आग जलते देख आया है, तो इस बातपर कोई विश्वास न करेगा। उसके उक्त उपदेशसे मिथ्या ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव व्यक्ति-विशेषका उपदेश ही प्रमाण कहकर ग्राह्य है। तथापि वह ज्ञान प्राप्त करनेके पहले यह मीमांसा आवश्यक है कि कौन विश्वासके योग्य है और कौन नहीं। अब प्रश्न यह है कि किस प्रमाणके ऊपर निर्भर करके यह मीमांसा की जाय? किस प्रमाणके ऊपर निर्भर करके 'मनु' आदिका कहना 'आप्त-वाक्य' समझ कर ग्रहण किया जाय और रामू श्यामूकी बातें अग्राह्य समझी जायँ? देखा जाता है कि अनुमानके द्वारा इस समस्याको हल करना होगा। मनुके साथ हमारे पादरी साहबका मतभेद है। तुम सदासे सुनते आ रहे हो कि मनुजी अभ्रान्त ऋषि थे और पादरी साहब स्वार्थपर साधारण आदमी हैं। इस लिए तुमने अनुमान किया कि मनुकी बात ग्राह्य है और पादरीकी बात अग्राह्य है। मनुके समान अभ्रान्त ऋषिने गोमांस-सेवनका निषेध किया है; इसीसे तुमने अनुमान किया कि गोमांस अभक्ष्य है। तब 'शब्द' को एक स्वतन्त्र प्रमाण न कहकर अनुमानके अन्तर्गत ही क्यों नहीं कहते?

केवल यही नहीं। जिसके कुछ उपदेशोंको तुम ग्राह्य समझते हो उसीके

अन्य कुछ उपदेशोंको अग्राह्य समझते हो। माध्याकर्षणके सम्बन्धमें न्यूटनका जो मत है उसे मानते हो, किन्तु प्रकाशके सम्बन्धमें जो उनका मत है उसे छोड़कर तुम क्षुद्रतर बुद्धिजीवी यंग और फेनेल साहबका मत मानते हो। इसका कारण क्या है? इसके कारणका अनुसंधान करनेसे वह कारण अनुमान ही जान पड़ेगा। अनुमानके द्वारा तुमने जाना है कि माध्याकर्षणके सम्बन्धमें न्यूटनका मत सत्य है और प्रकाशके सम्बन्धमें जो उनका मत है वह गलत है। यदि शब्द एक जुदा ही प्रमाण होता तो उसके सभी मतोंको तुम स्वीकार करते।

किन्तु भारतवर्षमें यही होता है। भारतवर्षमें जिसका एक मत अभ्रान्त और ग्राह्य है उसके सभी मत ग्राह्य समझे जाते हैं। इसका कारण यही है कि यहाँ शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। आर्योंके दर्शनशास्त्रकी आज्ञा है कि आप्तवाक्यमात्र ग्राह्य हैं। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि इस प्रकार विशेष विचारके बिना ऋषियों और पण्डितोंके हरएक मतको ग्रहण करना भी भारतवर्षकी अवनतिका एक कारण है। यहाँके दार्शनिकोंकी इस एक क्षुद्र भ्रान्तिसे साधारण कुफल या अनिष्ट नहीं हुआ है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दके अतिरिक्त नैयायिक लोग उपमितिको भी एक स्वतन्त्र प्रमाण समझते हैं। विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होगा कि उपमिति अनुमितिका प्रकारभेद मात्र है, और इसी कारण सांख्य आदि दर्शनोंमें उपमितिको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। अतएव उपमितिके विस्तृत उल्लेखका प्रयोजन नहीं जान पड़ता। वास्तवमें प्रत्यक्ष और अनुमान ही ज्ञानकी जड़ हैं।

अनुमानकी भी जड़ प्रत्यक्ष ही है। जिस विषयका कभी प्रत्यक्ष ज्ञान

नहीं हुआ उसका अनुमान नहीं भी हो सकता। तुम अगर कभी पहले मेघको न देखते या अगर और कोई कभी न देखता, तो तुम बन्द दरवाजेवाले घरमें मेघका गर्जन सुनकर कभी मेघका अनुमान न कर सकते। तुम अगर कभी जूहीकी खुशबूका प्रत्यक्ष ज्ञान न प्राप्त करते, तो अँधेरे घरमें जूहीकी खुशबू सूँघकर कभी अनुमान न कर सकते कि इस घरमें जूहीका फूल है। इसी तरह अन्यान्य पदार्थोंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। कभी कभी अनुमानकी जड़में बहुतसे बहुजातीय पूर्व-प्रत्यक्ष भी देखे जाते हैं। एक एक वैज्ञानिक नियम हजार हजार तरहके प्रत्यक्ष ज्ञानका फल है।

अतएव प्रत्यक्ष ही ज्ञानका एकमात्र मूल है। यही सब प्रमाणोंकी जड़ है *। अनेक लोग यह जानकर विस्मित होंगे कि दर्शनशास्त्र दो-तीन हजार वर्षतक घूम-फिर कर फिर उसी चार्वाकके मतके पास पहुँच गया है। धन्य है आर्य लोगोंकी बुद्धि! इतने दिनोंके बाद जिसे ह्यूम, मिल, बेन आदिने सिद्ध किया है उसे दो हजार वर्षसे भी पहले बृहस्पति प्रतिपादित कर गये हैं। कोई यह न समझे कि हम कह रहे हैं कि प्रत्यक्षके सिवा प्रमाण नहीं है। हम यह कहते हैं कि सब प्रमाणोंकी जड़ प्रत्यक्ष प्रमाण है। बृहस्पतिके सब ग्रन्थ लुप्त हो जानेके कारण यह निश्चय करना कठिन है कि बृहस्पतिने ठीक यही कहा था या नहीं।

प्रत्यक्ष ही ज्ञानकी एकमात्र जड़ है। किन्तु इस तत्त्वमें यूरोपके दार्शनिकोंके बीच भारी झगड़ा है। कोई कोई कहते हैं, हम लोगोंके ऐसे अनेक ज्ञान हैं जिनके मूलमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया जाता। जैसे काल, आकाश आदि।

* इन सब मतोंको इस समय मैंने त्याग कर दिया है।—ग्रन्थकार।

यह बात समझना कठिन है। आकाशके सम्बन्धमें एक सहज बात ले लीजिए। जैसे—दो समान्तराल रेखायें चाहे जितनी दूरतक घसीटिए, वे कभी मिल नहीं सकतीं। इस तत्त्वको हम निश्चित रूपसे जानते हैं। किन्तु यह ज्ञान हमने कहाँसे पाया? प्रत्यक्षवादी कहेंगे कि "प्रत्यक्षके द्वारा। हमने जितनी समान्तराल रेखायें देखी हैं वे कभी एकमें मिली नहीं।" इसपर दूसरे पक्षके लोग कहेंगे कि "जगतमें जितनी समान्तराल रेखायें हुई हैं, उन सबको तुमने नहीं देखा। तुमने जिन रेखाओंको देखा है वे अवश्य नहीं मिलीं, किन्तु तुमने यह किस तरह जाना कि कभी कहीं ऐसी दो समान्तराल रेखायें नहीं खींची गईं, या खींची न जायँगी, जो खींचते खींचते एक जगहपर न मिली हों, या न मिलेंगी? जिसे मनुष्यने प्रत्यक्ष देखा है उससे तुमने अप्रत्यक्ष विषयके बारेमें कैसे निश्चय कर लिया? तथापि हम यह जानते है कि जो तुम कह रहे हो वह सत्य है—कभी कहीं ऐसी दो समान्तराल रेखायें नहीं हो सकतीं कि वे मिल जायँ। तब यह मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्षके सिवा और भी किसी ज्ञानका मूल तुममें है; नहीं तो तुमने यह प्रत्यक्षसे अतिरिक्त ज्ञान कहाँ पाया?"

यही कहकर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कोम्टने लक और ह्यूमके प्रत्यक्षवादका प्रतिवाद किया है। इसके अतिरिक्त ज्ञानके सम्बन्धमें वे यह कहते हैं कि जहाँ बाह्यविषयका ज्ञान हमारी इन्द्रियके द्वारा होता है वहाँ बाह्य विषयकी प्रकृतिके सम्बन्धमें किसी तत्त्वकी नित्यता हमारे ज्ञानसे अतीत होनेपर भी हमारी इन्द्रियोंकी प्रकृतिकी नित्यता हमारे ज्ञानके अधीन है। अपनी इन्द्रियोंकी प्रकृतिके अनुसार हम बाह्य विषयोंकी कुछ निर्दिष्ट अवस्थाओंको प्राप्त समझते हैं। इन्द्रियोंकी प्रकृति सर्वत्र एक तरहकी है, इसी लिए बाह्य विषयोंकी सब अवस्थायें भी हमारे निकट

सर्वत्र एकरूप हैं। इसीसे हम काल, आकाश आदिके समवायकी नित्यता जान सकते हैं। यह ज्ञान हमारा ही है, इसीसे कोम्टने इसको स्वतःप्राप्त या आन्तरिक ज्ञान नाम दिया है।

पाठकोंको फिर देख पड़ेगा कि आधुनिक यूरोपका दर्शन घूम फिरकर उसी प्राचीन भारतीय दर्शनमे मिल रहा है। जैसे चार्वाकके प्रत्यक्षवादके साथ मिल और बेनके प्रत्यक्षवादका सादृश्य देखा गया है, वैसे ही वेदान्तके मायावादके साथ कोम्टके इस प्रत्यक्ष प्रतिवादका सादृश्य देखा जाता है। यूरोपमें आध्यात्मिक विषयके ऐसे बहुत कम तत्त्वोंका आविष्कार हुआ है जिनकी सूचना प्राचीन आर्योंने अपने ग्रंथोंमें न कर दी हो।

कोम्टके 'आभ्यन्तरिक ज्ञान' के मतके प्रधान प्रतिद्वन्द्वी जॉन स्टुअर्ट मिल हैं। उन्होंने कार्य-कारण-सम्बन्धके नित्यत्वका आश्रय लिया है। वे कहते है कि हम लोगोंने प्रत्यक्षके द्वारा यह अकाट्य संस्कार प्राप्त किया है कि जहाँ कारण वर्त्तमान है वहीं उसका कार्य वर्तमान रहेगा। जहाँ पहले देखा है कि 'क' वर्तमान है वहीं 'ख' को भी देखा है। फिर अगर हम कहीं 'क' को देखें तो हम जान सकते हैं कि यहींपर 'ख' भी हैं। क्योंकि हमने प्रत्यक्षके द्वारा जाना है कि जहाँ कारण रहता है वहीं उसका कार्य रहता है। समान्तराल-भाव कारण है और संमिलन-विरह उसका कार्य है। क्योंकि हमने जहाँ जहाँ समान्तराल-भाव देखा है वहीं देखा है कि मिलन नहीं हुआ। अतएव समान्तराल भाव सदा संमिलन-विरहके पहले रहता है। इसी कारण हम जानते हैं कि जब जहाँ दो समान्तराल रेखायें होंगी वहीं उनका मिलन नहीं हो सकता। अतएव यह ज्ञान प्रत्यक्षमूलक है।

अन्तमें हर्बर्ट स्पेन्सरका मत है। वे भी प्रत्यक्षवादी हैं। किन्तु वे कहते हैं कि ये सब प्रत्यक्षमूलक ज्ञान हमारे अपने प्रत्यक्षसे उत्पन्न नहीं हैं। प्रत्यक्षजात संस्कार पुश्तैनी होते हैं। मेरे पूर्व पुरुषोंके जो प्रत्यक्ष-जात-संस्कार थे उनका कुछ अंश मैंने पाया है। मैं उन संस्कारोंको लेकर ही नहीं पैदा हुआ था। ऐसा होता तो तुरतका पैदा हुआ बच्चा भी संस्कार-विशिष्ट होता। किन्तु उस समय भी उन संस्कारोंका बीज मेरे शरीरमें (मन शरीरके अन्तर्गत है) था, प्रयोजनके समय वही ज्ञानके रूपमें परिणत हो गया। इस प्रकार कोम्टके मतमें जो आभ्यन्तरिक या सहज ज्ञान है, वही स्पेन्सरके मतमें पूर्वपुरुषपरम्परागत प्रत्यक्षजात ज्ञान है। यह बात इस समय अप्रामाणिक जान पड़ सकती है, किन्तु स्पेन्सरने ऐसी दक्षताके साथ इसका समर्थन किया है कि इस समय यूरोपमें यही मत प्रचलित है। *

मनुष्यत्व क्या है ?

मनुष्य इस बातको अभीतक नहीं समझ सका कि मनुष्य-जन्म लेकर क्या करना होगा। अनेक लोग ऐसे है जो जगतमें धर्मात्मा कहकर अपना परिचय देते हैं। वे मुखसे कहा करते हैं कि परकालके लिए पुण्यसञ्चय ही मनुष्यके इस जन्मका उद्देश्य है। किन्तु अधिकांश लोग,

* बहुत लोग कोम्टके Positive Philosophy नामक दर्शनशास्त्रका नामानुवाद 'प्रत्यक्षवाद' करते हैं। हमारी समझमें यह भ्रम है। जिसको Empirical Philosophy कहते हैं, अर्थात् लक, मिल, ह्यूम और बेनका मत प्रत्यक्षवाद कहलाता है। इस प्रबन्धमें हमने इसी अर्थमें प्रत्यक्षवाद शब्दका प्रयोग किया है।

चाहे मुँहसे भले ही यह बात कहते हों, पर उनके कार्य इसके अनुसार नहीं होते। बहुत लोग तो परकालके अस्तित्वको ही स्वीकार नहीं करते। यद्यपि परकालका विषय सर्ववादिसम्मत है और इस बातको सब लोग स्वीकार करते हैं कि परकालके लिए पुण्यसञ्चय ही इस जन्मका उद्देश्य है, तथापि इस विषयमें विशेष मतभेद है कि पुण्य क्या है। केवल भारतमें ही एक संप्रदायके मतसे मद्यपानसे परलोक बिगड़ता है, और दूसरे संप्रदायके मतसे मद्यपान परलोकके वास्ते परम कार्य है। तथापि दोनों संप्रदायके लोग भारतीय है। यदि सचमुच परकालके लिए पुण्यसञ्चय ही मनुष्य-जन्मका प्रधान कार्य मान लिया जाय, तो अभी तक इस बातका कुछ निश्चय ही नहीं हुआ कि वह पुण्य क्या है और किस प्रकार उसका उपार्जन किया जाता है।

अच्छा मान लो, यह भी निश्चित हो गया है। मान लो, ब्राह्मण-भक्ति, गंगा-स्नान, तुलसीकी माला और हरिनाम-कीर्तन इत्यादि पुण्यकार्य हैं। ये ही मनुष्य-जीवनके उद्देश्य हैं। अथवा मान लो कि रविवारको काम न करना, गिरजेमें बैठकर आँखें मूँदना और ईसाई धर्मके सिवा दूसरे धर्मोंसे विद्वेष ही पुण्यकर्म है। इसको भी जाने दो। दान, दया, सत्यनिष्ठा आदिको सभी लोग पुण्यकार्य मानते हैं। किन्तु तथापि यह नहीं देख पड़ता कि दान, दमा, सत्यनिष्ठा आदिको अधिक लोग अपने जीवनका उद्देश्य समझनेका अभ्यास रखते हों और उन्हें सिद्ध करते हों। अतएव इस बातको सभी लोग स्वीकार नहीं करते कि पुण्य ही जीवनका उद्देश्य है। जहाँ यह बात सर्वस्वीकृत है वहाँ वह विश्वास केवल जबानी जमा-खर्च-भर है।

वास्तवमें अगर देखा जाय तो जीवनके उद्देश्यके तत्त्वकी मीमांसाको लेकर मनुष्य-लोकमें इस समय भी बड़ी गड़बड़ मची हुई है। लाखों

वर्ष पहले, अनन्त समुद्रके गहरे जलके भीतर जो अणुवीक्षणसे देख पड़नेवाले जीव रहते थे उनके देह-तत्त्वको लेकर तो मनुष्य विशेष व्यस्त देख पड़ते हैं; परन्तु इस बातके निर्णयकी विशेष चेष्टा नहीं देख पड़ती कि इस संसारमें उन्हें खुद क्या करना चाहिए। बहुत लोग किसी तरह अपना पेट पालकर अन्यान्य बाह्य इन्द्रियोंको चरितार्थ करके आत्मीय-स्वजनोंके भी पेट पाल सकनेको मनुष्य-जन्मकी सफलता समझते हैं। इसके सिवा किसी तरह औरोंपर प्रधानता प्राप्त करना भी एक उद्देश्य देख पड़ता है। पेट-पालनके उपरान्त, धनसे हो या किसी अन्य प्रकारसे हो, लोगोंमें यथासाध्य प्रधानता प्राप्त करनेको अपने जीवनका उद्देश्य समझकर लोग काम करते हैं। लोगोंकी समझमें यह प्रधानता प्राप्त करनेका उपाय धन, राजपद और यशकी प्राप्ति है। अतएव, मुखसे चाहे कोई न कहे, किन्तु कार्यके द्वारा धन, पद और यशकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका सर्ववादिसम्मत उद्देश्य जान पड़ता है। इन्हीं तीनोंके समवायको समाजमें सम्पत्ति कहते हैं। तीनों बातोंका एकत्र होना दुर्लभ है, इसलिए दो-एक—खासकर धन—होनेसे भी उसे सम्पत्ति मान लेते हैं। इस सम्पत्तिकी आकांक्षा ही समाजमें जीवनका मुख्य उद्देश्य समझी जाती है और यही समाजके घोरतर अनिष्टका कारण भी है। समाजकी उन्नतिकी गति धीमी होनेका प्रधान कारण यही है कि धीरे धीरे बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य बनती जाती है।* केवल साधारण मनुष्योंके खयालमें नहीं, यूरोपके प्रधान पण्डितों और राजपुरुषोंके खयालमें भी यह बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य है।

---

* यह स्वीकार करता हूँ कि किसी परिमाणमें धनकी आकांक्षा समाजके लिए मंगलकर है। धनकी आकांक्षामात्रको ही मैं अमंगलजनक नहीं समझता, किन्तु धन मनुष्य-जीवनका उद्देश्य होना अमंगलकर है।

बीच बीचमें कभी कोई ऐसा भी मनुष्य संसारमें उत्पन्न हो जाता है जो बाह्य सम्पत्तिको मनुष्य-जीवनका उद्देश्य समझना कैसा, उसे जीवनके उद्देश्यकी सिद्धिका प्रधान विघ्न समझकर दलसे अलग हो जाता है। जिस राज्यसम्पत्तिको अन्य लोग जीवनकी सफलताकी सामग्री समझते हैं उसीको विघ्न समझकर, शाक्यसिंह (बुद्धदेव)ने लात मार दी। भारतमें और यूरोपमें भी ऐसे मुनिवृत्तिधारी अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने बाह्य सम्पत्तिसे इतनी ही घृणा दिखाई है। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि इन्होंने ही असली और यथार्थ मार्गका अवलबन किया। शाक्यसिंहने यह शिक्षा दी कि इस लोकके व्यापारोंमें मन लगाना ही अनिष्टका कारण है—मनुष्य सर्वत्यागी होकर निर्वाणकी कामना करे। भारतमें इस शिक्षाका फल विषमय हुआ है। मनुष्य-जीवनके उद्देश्यके सम्बन्धमें इस प्रकार और भी अनेक मुनिवृत्तिके महापुरुषोंकी भ्रान्त धारणा होनेके कारण वे ऐहिक सम्पत्तिके प्रति विरक्त होकर भी समाजका इष्ट करनेमें विशेष कृतकार्य नहीं हो सके। साधारणतः संन्यासी आदि सर्वदेशीय वैरागी संप्रदायको उदाहरणके तौरपर निर्दिष्ट करनेसे ही यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जायगी।

कहनेका तात्पर्य यह है कि धन-संचय आदिकी तरह सुखशून्य, शुभफलशून्य, महत्त्वशून्य कार्य प्रयोजनीय होनेपर भी कभी मनुष्य-जीवनका उद्देश्य कहकर स्वीकृत नहीं हो सकते। यह जन्म भविष्य पारलौकिक जीवनके लिए परीक्षामात्र है। पृथ्वीतल स्वर्गलाभके लिए कर्मभूमि मात्र है। यह बात यदि यथार्थ हो, तो परलोकमें सुख देनेवाले कार्यका अनुष्ठान ही जीवनका उद्देश्य होना उचित है। किन्तु पहले तो वैसे कार्य कौन हैं, इसी विषयमें मतभेद है—निश्चय करनेका बिल्कुल कोई उपाय नहीं है और दूसरे परलोकके अस्तित्वका ही कोई प्रमाण नहीं है।

तीसरे परलोकके रहने पर भी—यह पृथ्वी परीक्षा-भूमि मात्र होने पर भी—ऐहिक ओर पारलौकिक भलाईमें विभिन्नता होनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता। यदि परलोक है तो जिस व्यवहारसे परलोकमें भलाई होनेकी संभावना है, उसी कार्यसे इस लोकमें भी भलाई होनेकी संभावना है। इस लोकमें उसीसे भलाई होनेकी संभावना न होनेका कारण अबतक कोई बतला नहीं सका। धर्मका आचरण यदि मंगलका कारण हो तो यह बात किस तरह प्रामाणित होती है कि वह केवल परलोकमें ही मंगलप्रद है, इस लोकमें नहीं ? ईश्वर स्वर्गमें बैठकर काजीकी तरह न्याय-विचार करते हैं—पापीको नरक-कुंडमें डालते हैं और पुण्यात्माको स्वर्ग भेजते हैं, इन प्राचीन मनोरंजक दन्तकथाओंको प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो लोग कहते हैं कि इस लोकमें अधार्मिककी भलाई और धर्मात्माकी बुराई होते देखी जाती है, उनकी दृष्टिमें केवल धनसम्पत्ति आदि ही शुभ या भलाई है। मूलमें ही होनेवाली इस भ्रान्तिसे उनका विचार दूषित है। यदि पुण्यकर्म परलोकमें शुभप्रद है तो वह इस लोकमें भी शुभप्रद होगा। किन्तु वास्तवमें केवल पुण्यकर्म क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें, शुभप्रद नहीं हो सकता। जिस प्रकारकी मनोवृत्तिका फल पुण्यकर्म है, उसीका दोनों लोकोंमें शुभप्रद होना सम्भव है। यदि कोई केवल मजिस्ट्रेट साहबकी प्रेरणाके वशीभूत होकर, या यशकी लालसासे, अप्रसन्न चित्तसे दुर्भिक्षनिवारणके लिए लाखों रुपये देता है, तो वह उससे परलोकके लिए पुण्य सञ्चय कैसे कर सकता है ? दान पुण्यकर्म अवश्य है, किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे दानसे परलोकका कुछ उपकार होगा। किन्तु जो अर्थाभावके कारण दान नहीं कर सका, किन्तु दान न कर सकनेके कारण खिन्न है, उसका इस लोकमें और परलोक अगर हो तो वहाँ भी, सुखी होना संभव है।

अतएव मनोवृत्तियोंके जिस अवस्थामें परिणत होनेसे पुण्यकर्म उसके फलके रूपमें आप ही निष्पन्न होता है, परलोक अगर हो तो वही परलोकमें भी शुभप्रद है, यह बात मानी जा सकती है। परलोक हो चाहे न हो, इस लोकमें वही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है। किन्तु केवल वह अवस्था ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य नहीं हो सकती। जैसे कुछ मानसिक वृत्तियोंकी चेष्टा कर्म है और जैसे उन वृतियोंके अच्छी तरह परिमार्जित और उन्नत होनेसे स्वभावतः शुभ कर्मके करनेकी प्रवृत्ति होती है वैसे ही और भी कुछ वृत्तियाँ हैं। उनका उद्देश्य किसी तरहका कार्य नहीं है—ज्ञान ही उनकी क्रिया है। कार्यकारिणी वृत्तियोंका अनुशीलन जैसे मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है वैसे ही ज्ञानोपार्जनकी वृत्तियोंका अनुशीलन भी जीवनका उद्देश्य होना उचित है। वास्तवमें अगर देखा जाय तो देख पड़ेगा कि सब प्रकारकी मानसिक वृत्तियोंका सम्यक् अनुशीलन, संपूर्ण स्फूर्ति, यथोचित उन्नति और विशुद्धि ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है।

यह बात नहीं है कि ऐसे मनुष्योंने जगतमें जन्म ही न लिया हो जिन्होंने केवल इसी उद्देश्यका अवलंबन कर, सम्पत्ति आदिको उपयुक्त घृणा दिखाकर अपना जीवन बिताया हो। ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम होनेपर भी उनके जीवनचरित मनुष्योंको अमूल्य शिक्षा दे सकते है। जीवनके उद्देश्यके सम्बन्धमें ऐसी शिक्षा और किसी तरह नहीं मिल सकती। नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सबकी अपेक्षा यही प्रधान शिक्षा है। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगोंके जीवनके गूढ़तत्त्व अपरिज्ञेय हैं। केवल दो आदमी अपना जीवनचरित आप लिखकर रख गये हैं,—एक गेटे और दूसरे जॉन स्टुअर्ट मिल।

गीति-काव्य

काव्य किसे कहते हैं, यह समझानेके लिए बहुत लोगोंने चेष्टा की है। किन्तु किसीकी चेष्टा सफल हुई है या नहीं, इसमें सन्देह है। यह स्वीकार करना होगा कि दो व्यक्तियोंने कभी एक प्रकारका अर्थ नहीं किया। किन्तु काव्यके यथार्थ लक्षणके सम्बन्धमें मत-भेद रहने पर भी काव्य एक ही पदार्थ है, इसमें सन्देह नहीं। चाहे कोई समझा सके या न समझा सके, वह पदार्थ क्या है, इसका अनुमान हर एक काव्यप्रेमी एक एक प्रकारसे कर सकता है।

काव्यका लक्षण चाहे जो हो, हमारी समझमें बहुतसे ग्रन्थ, जिन्हें साधारणतः काव्य नहीं कहते, वे भी काव्य हैं। महाभारत और रामायण इतिहास कहकर प्रसिद्ध होनेपर भी काव्य हैं। श्रीमद्भागवत पुराण कहकर प्रसिद्ध होनेपर भी अंश-विशेषमें काव्य है। स्काटके उपन्यास हमारी समझमे उत्कृष्ट काव्य हैं। यह कहनेकी जरूरत ही नहीं कि हम नाटकोंको काव्यके अन्तर्गत समझते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य आलंकारिकोंने काव्यके अनेक श्रेणी-विभाग किये हैं। उनमें अनेक विभाग अनर्थक जान पड़ते हैं। उन लोगोंकी कही हुई तीन श्रेणियाँ ले लेनेसे ही काम चल सकता है। यथा एक दृश्य-काव्य, अर्थात् नाटक आदि। दूसरे आख्यान-काव्य, अथवा महा-काव्य। रघुवंशकी तरह वंशावलीके उपाख्यान, रामायणकी तरह व्यक्तिविशेषके चरित, माघकी तरह घटना-विशेषके विवरण—सभी इसके अन्तर्गत हैं। वासवदत्ता, कादम्बरी आदि गद्यकाव्य और आधुनिक उपन्यास इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। तीसर खण्डकाव्य हैं।

देखा जाता है कि इन त्रिविध काव्योंके रूपमें बहुत विषमता है। किन्तु रूपकी विषमता यथार्थ विषमता नहीं है। दृश्य काव्य सर्वत्र साधारणतः कथोपकथनके रूपमें ही रचित होते हैं और रंगभूमिमें उनका अभिनय हो सकता है। किन्तु यह बात नहीं है कि जो कुछ कथोपकथनके रूपमें हो और जिसका अभिनय किया जा सके, वही नाटक या उस श्रेणीका काव्य मान लिया जाय। इस देशके लोगोंकी साधारणतः ऊपर कही गई भ्रान्त धारणा है। इसीसे बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंमें कथोपकथनके रूपमें रचित असंख्य पुस्तकें नाटकके नामसे प्रकाशित होकर पढ़ी जाती हैं और उनका अभिनय भी होता है। वास्तवमें उनमेंसे अनेक पुस्तकें नाटक नहीं हैं। पाश्चात्य भाषाओंमें अनेक उत्कृष्ट काव्य हैं जो नाटककी तरह कथोपकथनके रूपमें लिखित हैं। किन्तु वास्तवमें वे नाटक नहीं हैं। 'Comus', 'Manfred', 'Faust' इस बातके उदाहरण हैं। बहुत लोग शकुन्तला और उत्तररामचरितको भी नाटक कहकर स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं अँगरेजी और ग्रीक भाषाके सिवा किसी भाषामें प्रकृत नाटक नहीं हैं। गेटे कह गये हैं कि यथार्थ नाटक होनेके लिए बातचीतका ग्रन्थन और अभिनयकी उपयोगिता अत्यन्त आवश्यक नहीं है। हमारी समझमें 'Bride of Lammermoor' को नाटक कहनेसे कुछ अन्याय न होगा। इससे जान पड़ता है कि आख्यान-काव्य भी नाटकाकारमें प्रणीत हो सकता है, अथवा गीत-परंपरामें सन्निवेशित होकर गीति-काव्यका रूप धारण कर सकता है। बंगला-भाषामें शेषोक्त विषयके उदाहरणका अभाव नहीं है। यह भी देखा गया है कि अनेक खण्डकाव्य महाकाव्यके आकारमें रचे गये हैं। यदि किसी एक सामान्य उपाख्यानके ग्रथित काव्यमालाको आख्यान-काव्य नाम देना उचित समझा जाय तो 'Excursion,' 'Childe Harold'

को यह नाम दिया जा सकता है। किन्तु हमारी समझमें ये दोनों काव्य खण्डकाव्यके संग्रह मात्र हैं।

खण्डकाव्यके भीतर हमने अनेक प्रकारके काव्योंको स्थान दिया है। उनमेंसे एक प्रकारका काव्य प्रधानता प्राप्त करके यूरोपमें गीतिकाव्य (Lyric) के नामसे प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रबन्धमें हम उसी श्रेणीके काव्यकी बात कहना चाहते हैं।

यूरोपमें किसी वस्तुको एक अलग नाम प्राप्त होनेसे हमारे देशमें भी उसका एक अलग नाम रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जहाँ वस्तुमें कोई विभिन्नता नहीं है वहाँ नामकी विभिन्नता अनर्थक और अनिष्टजनक है। किन्तु जहाँ वस्तुयें जुदी जुदी हैं वहाँ नाम भी अलग होना आवश्यक है। यदि ऐसी कोई वस्तु हो कि उसके लिए गीति-काव्य नाम धारण करना आवश्यक हो, तो अवश्य यूरोपके निकट हमको ऋणी होना पड़ेगा।

गीत मनुष्यके लिए एक स्वाभाविक वस्तु है। बातसे केवल मनका भाव व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु स्वरके ढंगसे वह स्पष्ट होता है। 'आह' यह शब्द स्वरके ढंगके अनुसार दुःखबोधक हो सकता है, विरक्ति-वाचक हो सकता है और व्यंग्योक्ति भी हो सकता है। 'तुम्हें देखे बिना मेरे प्राण जाने लगे' यह कहनेसे दुःख प्रकट किया जा सकेगा; परन्तु यही उपयुक्त स्वरभंगीके साथ बोलनेसे सौगुणा दुःख प्रकट होगा। इसी स्वर-वैचित्र्यका परिणाम संगीत है। अतएव मनका वेग प्रकाशित करनेके आग्रहकी अधिकतासे मनुष्य सङ्गीत-प्रिय है और उसकी साधनामें आपहीसे यत्नशील है।

किन्तु अर्थयुक्त वाक्यके बिना चित्तका भाव व्यक्त नहीं होता।

अतएव संगीतके साथ वाक्यका संयोग आवश्यक है। इसी संयोगसे उत्पन्न पदको गीत कहते हैं।

गीतके लिए वाक्य-विन्यास करनेसे देखा जाता है कि किसी नियमके अधीन वाक्य-विन्यास करनेसे ही गीतकी रचना सुडौल हो जाती है और उन्हीं नियमोंके ज्ञानसे छन्दोंकी सृष्टि हुई है।

गीतके सुडौल होनेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है, स्वर-चातुरी और शब्द-चातुरी। इन दोनोंकी अलग अलग क्षमता होती है। दोनों क्षमतायें एक ही मनुष्यमें अकसर नहीं देखी जातीं। सुकवि और सुगायक होना हर एकको नसीब नहीं होता।

इसी कारण एक आदमी गीतकी रचना करता हैं और दूसरा गाता हैं। इस प्रकार गीतसे गीति-काव्य अलग हो जाता हैं। गीत होना ही गीति-काव्यका आदिम उद्देश है। किन्तु जब देखा गया कि गीत न होनेसे भी केवल पद्य रचना ही आनन्ददायक है और सम्पूर्ण रूपसे मनोभावको व्यक्त कर सकती है, तब गीतके उद्देश्यपर ध्यान न देकर अनेक गीतिकाव्योंकी रचना होने लगी।

अतएव गीतका उद्देश्य ही जिस काव्यका उद्देश्य है वही गीति-काव्य है। वक्ताके भावोच्छ्वासको व्यक्त करना ही जिसका उद्देश है वही काव्य गीति-काव्य है।

जब हृदय किसी विशेष भावसे आच्छन्न होता है, वह स्नेह, शोक, भय आदिमेंसे चाहे जो हो, तब उस भावका संपूर्ण अंश कभी व्यक्त नहीं होता। कुछ व्यक्त होता है और कुछ नहीं व्यक्त होता। जो व्यक्त होता है वह बातचीत और क्रियाके द्वारा। वही बातचीत और क्रिया नाटक-कारकी सामग्री है। जो उसमें अव्यक्त रहता है वही गीतिकाव्य रचने-

वालेकी सामग्री है। जो साधारणतः नहीं देख पड़ता, अदर्शनीय और अन्यके अनुमानमें भी आनेवाला नहीं है, अर्थात् भावयुक्त मनुष्यके रुद्ध हृदयमें उच्छ्वसित है उसीको व्यक्त करना गीति-काव्य-लेखकका काम है। महाकाव्यका विशेष गुण यह है कि कविको दोनों तरहके अधिकार रहते हैं, वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों उसके अधीन होते हैं। महाकाव्य, नाटक और गीति-काव्य, इन तीनोंमें यही एक प्रधान प्रभेद जान पड़ता है। अनेक नाटककार इस भेदको नहीं जानते और इसीसे उनकी नायिका और नायकके चरित्र अप्राकृत और बहुतसे वागाडम्बरसे परिपूर्ण हो जाते हैं। सत्य है कि गीति-काव्य-लेखकको भी वाक्यके द्वारा ही रसकी उद्भावना करनी होती है और नाटककारका भी वही वाक्य सहाय है; किन्तु जो वाक्य वक्तव्य है उसीको नाटककार पात्रके मुखसे कहला सकता है। जो अवक्तव्य है उसपर गीति-काव्य-कारका ही अधिकार है।

उदाहरणके बिना इस बातको बहुत लोग समझ न सकेंगे। सीता-विसर्जनके समय और उसके बाद भवभूतिके नाटक और वाल्मीकिकी रामायणमें जो रामके व्यवहारका तारतम्य देखा जाता है, उसकी आलोचना करनेसे यह बात समझमें आ जायगी। रामके चित्तमें जिस समय जिस भावका उदय हुआ, उसे उसी क्षण भवभूतिकी लेखनीने लिख डाला। उन्होंने अपने नाटकमें वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों तरहकी बातोंका समावेश किया है। उन्होंने ऐसा करके नाटककारके योग्य काम नहीं किया, वे गीति-काव्यकारके अधिकारमें हस्तक्षेप करने चले हैं। किन्तु वाल्मीकिने वैसा न करके केवल रामके कार्योंका ही वर्णन किया है और उन कार्योंके सम्पादनके लिए जितना भाव व्यक्त करनेकी आवश्यकता थी उतना ही भाव व्यक्त किया है। भवभूतिरचित नाटकमें वर्णित रामविलापके साथ शेक्सपियरके 'उथेलो' नाटकमें डेस्डिमोना--

वधके उपरान्त उथेलोके विलापकी विशेषरूपसे तुलना करके देखनेसे भी यह बात समझमें आ जायगी। शेक्सपियरने उस समय उथेलोके मुखसे ऐसी कोई बात नहीं कहलाई, तात्कालीन कार्यके लिए या अन्यकी बातके उत्तरमें, जिसके व्यक्त कहलाई, तत्कालीन कार्यके लिए या अन्यकी बातके उत्तरमें, जिसके व्यक्त करनेका प्रयोजन न था। वक्तव्यसे वे चावल भर भी आगे नहीं बढ़े। शेक्सपियरने भवभूतिकी तरह नायकके हृदयका अनुसन्धान करके उसके भीतरसे एक एक भावको खींचकर, एक एक गिनकर, कतारकी कतार सजाकर पाठकोंके आगे खड़ा नहीं कर दिया; तथापि यह कौन कह सकता है कि भवभूतिने रामके मुखसे जो दुःख व्यक्त किया है, उससे हजारगुना दुःख शेक्सपियरने उथेलोके मुखसे नहीं व्यक्त कराया ?

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जो वक्तव्य है वह दूसरेसे सम्बन्ध रखता है या किसी कार्यके लिए होता है और जो अवक्तव्य है वह अपने चित्तसे सम्बन्ध रखता है—उसका उद्देश्य केवल कह डालना भर है। ऐसी बात नाटकमें होनी ही न चाहिए–यह मैं नहीं कहता। बल्कि कभी कभी तो इसका होना आवश्यक होता है। किन्तु यह कभी नाटकका उद्देश्य नहीं हो सकता। नाटकके उद्देश्यके अनुकूल होनेपर प्रयोजनके अनुसार कहीं कहीं इसका भी सन्निवेश होता है।

प्रकृत और अतिप्रकृत

काव्यरसकी सामग्री मनुष्यका हृदय है। जो मनुष्यके हृदयका अंश अथवा उसका सञ्चालक है उसके सिवा और कुछ भी उसके कामके लायक नहीं है। किन्तु कभी कभी महाकवि लोग अमानुषिक अलौकिक

वस्तुका भी वर्णन करने बैठे हैं। उनमेंसे अधिकांश वर्णन नर-चरित्रके चित्रके साथी भर हैं। महाभारत, इलियड आदि प्राचीन काव्य इसी प्रकार लौकिक नायक नायिकाओंके चित्रके साथी अलौकिक देवचरित्रोंके वर्णनसे परिपूर्ण हैं। देवचरित्रके वर्णनमें रस-हानिका विशेष कारण यह है कि जो कुछ मनुष्य चरित्रके अन्तर्गत नहीं, उसके साथ मनुष्य-लेखक या मनुष्य-पाठकका मन मेल ही नहीं खा सकता। अगर हम कहीं पढ़ें कि कोई मनुष्य यमुनाके एक गहरे पानीसे भरे कुण्डमें डूब गया है और अजगर सर्पने उसपर आक्रमण किया है, तो हमारे मनमें भयका सञ्चार होगा। हमारा जाना हुआ है कि ऐसी विपत्तिमें पड़े हुए मनुष्यके मरनेकी ही संभावना है। अतएव उसकी मृत्युकी आशंकासे हम डरते और दुःखित होते हैं—कविके वाञ्छित रसकी अवतारणा होती है, उसका यत्न सफल होता है। किन्तु यदि हम पहलेसे ही जानते हों कि डूबा हुआ मनुष्य वास्तवमें मनुष्य नहीं—देवता है, वह जल या सर्पकी शक्तिके अधीन नहीं है, इच्छामय और सर्वशक्तिमान् है, तब फिर हमें भय या कुतूहल नहीं होता। क्यों कि हम पहलेसे ही जानते हैं कि यह अजेय अविनश्वर पुरुष अभी कालिय-दमन करके जलसे निकल आवेगा।

ऐसी अवस्थामें भी जो पहलेके कविगण देवचरित्र या अमानुषिक चरित्रकी सृष्टि करके लोकरञ्जनमें समर्थ हुए हैं, उसका एक विशेष कारण है। उन्होंने देवचरित्रको मनुष्यचरित्रके अनुकरणपर वर्णन किया है, इसी कारण उनके पढ़ने सुननेमें पाठकों और श्रोताओंकी सहृदयता बनी रहती है। मनुष्य जैसे राग-द्वेष आदिके वशीभूत हैं, जैसे सुखोंकी अभिलाषा करते हैं, दुःखको अप्रिय समझते हैं, आशाओंपर जैसे लुब्ध रहते हैं, सौन्दर्यपर मुग्ध होते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, वैसे ही पूर्व कवियोंके वर्णित मनुष्यप्रकृति देवता भी हैं। श्रीकृष्णचन्द्र, जगदीश्वरके

अंशवतार या पूर्णावतार माने जानेपर भी, मनुष्यकी तरह मनुष्यधर्मावलम्बी हैं। मानव-चरित्रगत ऐसी कोई उत्कृष्ट मनोवृत्ति नहीं है, जिसे भागवतके लेखकने कृष्णचरित्रमें अंकित न किया हो। इस मानुषिक चरित्रके साथ अमानुषिक बल और बुद्धिका संयोग होनेसे चित्रकी मनोहरता और भी बढ़ गई है। क्योंकि कविने उसमें मानुषिक बल-बुद्धिकी सुन्दरताके चरम उत्कर्षकी सृष्टि की है। काव्यमें अतिप्रकृतको स्थान देनेका उद्देश्य और उपकार यही है कि वे प्रकृतके नियम ही कविकी अतिप्रकृत सृष्टिके नियामक होते हैं। ऐसा ही होना उचित भी है।

एक संस्कृतमें और एक अँगरेजीमें ऐसा ही महाकाव्य है कि देव-चरित्र और अतिप्रकृतचरित्र उसके आनुषंगिक नहीं, मूल विषय हैं। संस्कृतका काव्य 'कुमारसम्भव' और अँगरेजीका 'Paradise' है। मिल्टनने Paradise Lost में देवप्रकृति ईश्वरविद्रोही शैतानको अनुचरवर्गसहित नायक बनाया है। जगदीश्वरके साथ उसके विरोध और जगदीश्वर तथा उसके अनुचरोंके साथ उसके युद्धका वर्णन है। मिल्टनने किसी भी पक्षको पूर्णरूपसे मनुष्यप्रकृतिविशिष्ट नहीं दिखलाया। अतएव वे काव्यरसकी अति उत्कृष्ट अवतारणामें कृतकार्य होकर भी लोगोंके मनोरंजनमें वैसी सफलता नहीं प्राप्त कर सके। Paradise Lost अति उत्कृष्ट महाकाव्य होनेपर भी, प्रायः कोई उसे आदिसे अन्ततक नहीं पढ़ता। उसको इस तरह पढ़नेमें जी ऊब उठता है। मिल्टन ऐसे प्रथम श्रेणीके कविकी रचना न होकर अगर यह मध्यम श्रेणीके किसी कविकी रचना होती, तो शायद कोई भी इसे न पढ़ता। इसका कारण यही है कि मनुष्यचरित्रसे भिन्न देवचरित्रके पढ़नेमें मनुष्यका मन नहीं लगता। इस काव्यमें जहाँ आदम और ईश्वरकी कथा है, वहीं

स्थान अधिकतर सुखदायक है। किन्तु ये काव्यके प्रकृत नायक-नायिका नहीं है—इनका उल्लेख आनुषंगिक है। आदम और ईश्वर प्रकृत मनुष्य-प्रकृति थे। वे आदिम मनुष्य, पार्थिव सुख-दुःखसे मुक्त निष्पाप थे। जिन शिक्षाओंके गुणसे मनुष्य मनुष्य होता है, उनमेंसे कोई शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। अतएव यह कहना ठीक है कि इस काव्यमें प्रकृत मनुष्य-चरित्रका वर्णन ही नहीं किया गया।

कुमारसंभवका कोई पात्र मनुष्य नहीं है। जो प्रधान नायक हैं वे स्वयं परमेश्वर है। नायिका परमेश्वरी हैं। इनके सिवा पर्वतराज, उनकी स्त्री, ऋषि, ब्रह्मा, इन्द्र, रति, काम आदि सब देव देवी हैं। वास्तवमें इस काव्यका तात्पर्य बहुत गूढ़ है। संसारमें दो सप्रदायके लोग सदा परस्पर झगड़ा करते हैं। एक इन्द्रियपरायण, ऐहिक सुखमात्रके अभिलाषी, परलोककी चिन्ता न करनेवाले और दूसरे विषयोंसे विरक्त, सांसारिक सुखमात्रके विद्वेषी, ईश्वर-चिन्तामें मग्न। एक संप्रदाय केवल शारीरिक सुखको सारांश समझता है और दूसरा सम्प्रदाय सुखके साथ अनुचित द्वेष रखता है। वास्तवमें देखा जाय तो दोनों संप्रदायके लोगोंकी भ्रान्त धारणा है। जो ईश्वरवादी हैं उन्हें ईश्वरकी दी हुई इन्द्रियोंको अमंगलकर या अश्रद्धेय समझना अनुचित है। शारीरिक भोगकी अधिकता ही दूषणीय है। परिमित शारीरिक सुख तो संसारके नियमोंकी और संसारकी रक्षाका कारण है। वह ईश्वरका आदेश और धर्मको पूर्ण करनेवाला है। शारीरिक और पारलौकिक सुखके परिणयके गीत गाना ही कुमारसंभव काव्यका उद्देश्य है। पार्थिव पर्वतसे उत्पन्न उमा ही 'शरीर' का रूप हैं और तपस्वी महादेव पारलौकिक शान्तिकी प्रतिमा हैं। शान्ति पानेकी आकांक्षासे उमाने पहले कामदेवकी सहायता की, किन्तु उपाय निष्फल हुआ। इन्द्रिय-सेवाके द्वारा शान्ति नहीं प्राप्त होती। अन्तको अपने चित्तको शुद्ध कर इन्द्रिया-

सक्तिरूप मलको चित्तसे दूर करके जब उमाने शान्तिमें मन लगाया तब उन्हें शान्ति प्राप्त हो गई। सांसारिक सुखके लिये चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है। चित्तशुद्धि रहनेसे ऐहिक और पारलौकिकमें परस्पर विरोध नहीं होता, दोनों परस्पर एक दूसरेकी सहायता करते हैं।

इसी प्रकार मनोवृत्तियोंको लेकर कविने नायक-नायिका बना कर लोगोंकी प्रीतिके लिए लौकिक देवताओंके नामसे उनका परिचय दिया है। किन्तु देवचरित्रके प्रणयनमें कालिदासने मिल्टनकी अपेक्षा अधिक कौशल दिखाया है। कवित्वके हिसाबसे Paradise Lost की अपेक्षा कुमारसंभवका दर्जा बहुत ऊँचा है। हमारी समझमें कुमारसंभवके तृतीय-सर्गकी कविताकी बराबरी करनेवाली कविता किसी और भाषाके किसी महाकाव्यमें नहीं है। किन्तु कवित्वकी बात छोड़ देनेपर केवल कौशलके लिए भी मिल्टनकी अपेक्षा कालिदास अधिक प्रशंसाके पात्र हैं। Paradise Lost पढ़नेमें श्रम जान पड़ता है और कुमारसंभवको आदिसे अन्ततक बारंबार पढ़नेसे भी तृप्ति नहीं होती। इसका कारण यही है कि कालिदासने देव-चरित्रको मनुष्य चरित्रके साँचेमें ढालकर उसमें अमित माधुर्य भर दिया है। उमा आदिसे अन्ततक मानवी हैं, कहींपर तिलभर भी उनमें देवभाव नहीं झलकता। उनकी माता मेना मानवी माताके समान हैं। 'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवम्' इत्यादि श्लोकार्धके साथ माण्टेगूकी कही 'Like the bud bit by an envious worm' इस उपमाकी तुलना कीजिए। देखिएगा, उमाकी माता और रोमियोंके पिता एक ही प्रकृतिके—सर्वथा मनुष्य हैं। मेना पत्थरके पहाड़की स्त्री हैं, पर उनका हृदय कुलकामिनियोंके समान कुसुम-सुकुमार है।

इसलिए अतिप्रकृत जबतक प्रकृतके अनुकरणपर न होगा, तबतक वह उपयोगी नहीं हो सकता।

आर्यजातिका सूक्ष्म शिल्प

कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि इस संसारमें सुख नहीं है, वनमें चलो, भोग समाप्त करके मुक्ति या निर्वाण प्राप्त करो। और कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि संसार सुखमय है, वञ्चकोंकी वञ्चनापर ध्यान न देकर खाओ, पीओ, सोओ। जो लोग सुखके अभिलाषी हैं उनमें भी अनेक मत हैं। कोई कहता हैं धनमें सुख है। कोई कहता है मनमें सुख है। कोई धर्ममें सुख और कोई अधर्ममें सुख मानता है। किसीको कार्यमें सुख है, किसीको ज्ञानमें सुख है। किन्तु ऐसा मनुष्य एक भी नहीं देख पड़ता जो सौन्दर्यमें सुख न मानता हो। संसारमें सब सुन्दरी स्त्रीकी कामना करते हैं, सुन्दरी कन्याका मुख देखकर प्रसन्न होते हैं, सुन्दर बालककी ओर देखकर विमुग्ध होते हैं, सुन्दर बहूके लिए बड़ी कोशिश करते हैं, सुन्दर फूल चुनकर अपने पास रखते हैं। घोर परिश्रम करके जो धन पैदा करते हैं, उसे खर्च करके सुन्दर घर बनवाते हैं और उसमें सुन्दर सामान रखते हैं—इसके लिए ऋणी भी हो जाते हैं। सर्वथा सुन्दर सजधजसे आप सुन्दर बनना चाहते हैं। चिड़ियाँतक सुन्दर देखकर पालते हैं, सुन्दर वृक्षोंसे सुन्दर बाग बनाते हैं। सुन्दर मुखकी सुन्दर हँसी देखनेके लिए सुन्दर स्वर्ण और रत्नके आभूषण सुन्दरीको पहनाते हैं। सभी नित्य सौन्दर्यकी तृष्णामें चूर रहते हैं। किन्तु कभी किसीने इधर अधिक ध्यान न दिया होगा, इसीसे ये बातें यहाँपर इतने विस्तारसे कही गई हैं।

यह सौन्दर्य-तृष्णा जैसी प्रबल है वैसी ही प्रशंसनीय और परिपोषणीय भी है। मनुष्यके जितने सुख हैं उनमें यही सुख सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले तो यह पवित्र, निर्मल और पापके संसर्गसे शून्य है।

सौन्दर्यका उपभोग केवल मानसिक सुख है—इन्द्रियसुखके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह सच है कि अकसर सुन्दर वस्तुका इन्द्रिय-तृप्तिके साथ सम्बन्ध होता है, किन्तु सौन्दर्यसे उत्पन्न सुख इन्द्रिय तृप्तिसे भिन्न है। रत्नजटित सोनेके गिलास या कटोरीमें जल पीनेसे जिस तरह तुम्हारी प्यास जाती रहेगी, उसी तरह भद्दे बने हुए मिट्टीके कुल्हड़ेमे जल पीनेसे भी तुम्हारी प्यास मिट जायगी। स्वर्ण-पात्रमें जल पीनेका जो अतिरिक्त सुख मिलता है वह सौन्दर्य-जनित मानसिक सुख है। अपने स्वर्ण-पात्रमें जल पीनेके अहंकारका सुख उसके साथ मिला हुआ अवश्य होता है, किन्तु पराये स्वर्ण-पात्रमें जल पीनेपर प्यास मिटनेसे अलग जो सुख मिलता है, वह केवल सौन्दर्यजनित है, यह बात माननी ही पड़ेगी। दूसरे यह सुख सब सुखोंसे बढ़कर तीव्र होता है। जिन्हें प्राकृतिक शोभा देखना पसन्द है या जो काव्यामोदी हैं, वे इसके अनेक उदाहरणोंको खोज ले सकते हैं। सौन्दर्यके उपभोगका सुख अक्सर इतना तीव्र होता है कि असह्य हो उठता है। तीसरे अन्यान्य सुख बारबार भोगनेसे अरुचिकर हो जाते हैं, किन्तु सौन्दर्यजनित सुख सदा नया, सदा प्रसन्नता देनेवाला बना रहता है।

अतएव जो लोग मनुष्य-जातिका यह सुख बढ़ाते हैं, उन्हें मनुष्य-जातिका उपकार करनेवालोंमें सर्वोच्च पद मिलना चाहिए। यह सच है कि जो भिक्षुक खंजरी बजाकर, भजन गाकर, मुट्ठीभर भीख पाकर चला जाता है, उसे कोई मनुष्य-जातिका बड़ा उपकार करनेवाला न मानेगा। किन्तु जो वाल्मीकि चिरकालके लिए कोटि कोटि मनुष्योंके अक्षय सुख और चित्तके उत्कर्षका उपाय कर गये हैं, वे यशके मन्दिरमें न्यूटन, हार्वी, वाट या जेनरके नीचे स्थान पानेके योग्य नहीं

है। बहुत लोग लेकी, मेकाले आदि असारग्राही लेखकोंके अनुवर्ती होकर कविकी अपेक्षा जूते बनानेवालेको उपकारी कहकर ऊँचे आसनपर बैठाते हैं; पर इस मूर्खदलमें कुछ आधुनिक अर्धशिक्षित बाबू लोग ही अग्रगण्य हैं। उधर विलायतमें राजपुरुषचूड़ामणि ग्लाडस्टन, स्काटलैंडके मनुष्योंमें ह्यूम, स्मिथ, हण्टर, कार्लाइल आदिके रहते भी वाल्टर स्काटको सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

जैसे मनुष्यके अन्यान्य अभावोंकी पूर्तिके लिए एक एक शिल्पविद्या है, वैसे ही सौन्दर्यकी आकांक्षा पूर्ण करनेके लिए भी विद्या है। सौन्दर्य उत्पन्न करनेके विविध उपाय हैं। उपायोंके भेदके अनुसार उस विद्याने भिन्न भिन्न रूप धारण किये हैं।

हम जिन सुन्दर वस्तुओंको देखते हैं, उनमेंसे कुछ एकके केवल वर्ण ही है, और कुछ नहीं है—जैसे आकाश।

और कुछ एकके वर्णके सिवा आकार भी है—जैसे पुष्प।

कुछ एकके वर्ण और आकारके सिवा गति भी है—जैसे नाग।

कुछ एकके वर्ण, आकार और गतिके सिवा शब्द भी है—जैसे कोकिला।

मनुष्यके वर्ण, आकार, गति और शब्दके सिवा अर्थयुक्त वाक्य भी है।

अतएव सौन्दर्य उत्पन्न करनेकी ये ही कई एक सामग्रियाँ हैं—वर्ण, आकार, गति, शब्द और अर्थयुक्त वाक्य।

जिस सौन्दर्यजननी विद्याका आधार वर्णमात्र है, उसको चित्रविद्या कहते हैं।

जिस विद्याका अवलंबन आकार है, वह दो प्रकारकी है। जड़के आकारका सौन्दर्य जिस विद्याका उद्देश्य है उसको स्थापत्य कहते हैं। चेतन या उद्भिजका सौन्दर्य जिस विद्याका उद्देश्य है उसे भास्कर्य कहते है।

जिस सौन्दर्यजननी विद्याकी सिद्धि गतिके द्वारा होती है उसको नृत्य कहते है।

जिस विद्याका अवलम्बन शब्द है उसे संगीत कहते हैं।

वाक्य जिसका अवलम्बन है उसे काव्य कहते हैं। काव्य, संगीत, नृत्य, भास्कर्य, स्थापत्य और चित्र—ये छः सौन्दर्यजननी विद्यायें हैं। इन विद्याओंका जो जातिवाचक नाम प्रचलित है, उसका अनुवाद करके उनको 'सूक्ष्म शिल्प' नाम दिया गया है।

सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाली ये छः विद्यायें मनुष्यजीवनको अलंकृत और सुखपूर्ण बनाती हैं। भाग्यहीन हिन्दुस्तानियोंके भाग्यमें यह सुख नहीं बदा है। सूक्ष्मशिल्पके साथ उनका बड़ा विरोध है। इन विद्याओंके प्रति इस देशके लोग बहुत ही अनादर और घृणाका भाव दिखाते हैं। इस देशके लोग वास्तवमें सुखी होना जानते ही नहीं।

हम स्वीकार करते हैं कि सारा दोष इस देशके लोगोंका अपना ही नहीं है। उसमें कुछ दोष हमारी सामाजिक रीति-नीतिका भी है। हम बाप-दादेकी देहली छोड़कर कहीं जायँगे नहीं—उसीमें असंख्य सन्तान-सन्तति लेकर बिलमें चींटियोंकी तरह रहेंगे। अतएव स्थानाभावके कारण सफाई और सौन्दर्य-साधन हो नहीं सकता। कुछ दोष हमारी गरीबीका भी है। सौन्दर्यका साधन धनके विना हो नहीं सकता। बहुतोंके पास किसी तरह गिरिस्ती चलानेके लिए भी यथेष्ट धन नहीं है। उसपर सामाजिकताके कारण पहले स्त्रियोंके गहने गढ़ाकर तिथि-त्योहारमें मा बापकी बर्सी, चौबर्सी और श्राद्ध आदि कृत्योंमें और पुत्र-कन्याके ब्याहमें वित्तबाहर खर्च करना पड़ता है। चाहे शूकरशालाके समान तंग और गन्दी जगहमें रहना पड़े, पर इन बातोंमें रत्तीभर कमी नहीं हो सकती। यही सामाजिक रीति है। इच्छा होनेपर भी

समाज-श्रृंखलामें बँधा हुआ हिन्दू इस रीतिके विपरीत आचरण नहीं कर सकता। कुछ दोष हिन्दूधर्मका भी है। जिस धर्मके अनुसार कीमती संगमर्मरके फर्शवाले मकानको भी गोबर लीपकर साफ बनानेकी रीति है, उस धर्मकी कृपासे सूक्ष्मशिल्पकी दुर्दशा होना ही सर्वथा संभव है।

यह सब स्वीकार कर लेनेपर भी हम दोषसे बच नहीं सकते। जो अँगरेज क्लर्की करके किसी तरह सौ रुपये महीनेमें गुजर करता है उसके साथ, घरकी सजावट और सफाईके बारेमें सालमें २०,०००) रुपये मुनाफेके पानेवाले देहाती जमींदारकी तुलना करो। देखोगे कि वह भेद बहुत कुछ स्वाभाविक-सा है। दो चार धनाढ्य बाबू अँगरेजोंका अनुकरण करके अँगरेजोंकी तरह घर वगैरहकी सजावट किया करते हैं और भास्कर्य तथा चित्र आदिके द्वारा घरको सजाते हैं। हिन्दुस्तानी नकल-नवीस अच्छे होते हैं। उनके अनुकरणमें शिथिलता जरा भी नहीं देख पड़ती। किन्तु उनका भास्कर्य और चित्रोंका संग्रह देखनेसे ही जान पड़ता है कि अनुकरणकी स्पृहासे ही उन्होंने वह संग्रह किया है। नहीं तो सौन्दर्यके प्रति उनका आन्तरिक अनुराग नहीं है। यहाँ भले-बुरेका विचार नहीं है, मँहगी चीज होनी चाहिए। सजावटकी निपुणता नहीं है, सामग्री संख्यामें अधिक होनी चाहिए। भास्कर्य और चित्रोंको जाने दीजिए। काव्यके सम्बन्धमें भी हिन्दुस्तानियोंमें उत्तम अधमके विचारकी शक्ति नहीं देख पड़ती। इस विषयमें यहाँके सुशिक्षित और अशिक्षित समान हैं। दोनोंमें बहुत थोड़ा भेद है। नृत्य और गीतकी विद्या तो हिन्दुस्तानसे उठ ही गई है। सौन्दर्यके विचारनेकी शक्ति, सौन्दर्य-रसके आस्वादनका सुख, शायद विधाताने इस देशके लोगोंके भाग्यमें नहीं लिखा।

संगीत

संगीत किसे कहते हैं ? सभी जानते हैं कि सुरसमेत शब्द ही संगीत है। पर अब प्रश्न यह है कि सुर क्या है ?

एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका आघात लगनेसे शब्द उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थमें आघात लगता है उसके परमाणुओंमें कम्पन पैदा हो जाता है। उस कम्पनसे उसके आसपासकी हवा भी कम्पित होती है। जैसे तालाबमें जलके ऊपर ईंट फेंकनेसे छोटी छोटी लहरें उठकर मण्डलाकार फैलती हैं वैसे ही कम्पित वायुकी लहरें चारों ओर फैलती हैं। वे ही तरंगें कानमें प्रवेश करती हैं। कानके पर्देमें एक सूक्ष्म झिल्ली है। वायुकी लहरोंका सिलसिला उसी झिल्लीपर जाकर धक्का मारता है; उसके बाद वह उस झिल्लीसे मिली हुई हड्डी आदिके द्वारा कानके स्नायुमें पहुँचकर मस्तिष्कमे प्रवेश करता है। उसीसे हमें शब्दका अनुभव होता ह।

इस कारण वायुका कम्पन ही शब्दका मुख्य कारण है। वैज्ञानिकोंने यह निश्चित किया है कि जिस शब्दमें, हर सेकण्डमें, ४९,००० दफा वायुका कम्पन होता है उसे हम सुन पाते हैं; उससे अधिक कम्पन होने पर हम नहीं सुन पाते। एक और वैज्ञानिकका कहना है कि हर सेकण्डमें जिस शब्दमें, १४ दफासे कम कम्पन होता है उस शब्दको हम नहीं सुन पाते। इस वायु-कम्पनकी समान मात्रा ही सुरका कारण है। दो कम्पनोंमें जितना समय बीतता है वह यदि हर बार समान रहे तो सुर पैदा हो जाता है। गीतमें ताल जैसे मात्राकी समता मात्र है, वैसे ही शब्दकम्पनमें मात्राकी समता होनेसे सुरकी उत्पत्ति होती है।

जिस शब्दमें वह मात्राकी समता नहीं, वही 'बेसुरा' कहलाता है। ताल-सुर ही संगीतका सारांश है

इस सुरकी एकता या बहुत्व ही संगीत है। बाहरी प्रकृति-तत्त्वमें संगीतकी यह प्रक्रिया हैं। किन्तु इससे मानसिक सुख क्यों होता है, सो भी बतलाते हैं।

संसारमें कुछ भी ऐसा नहीं जो सम्पूर्ण रूपसे उत्कृष्ट हो। सभी चीजोंमें उत्कर्षके किसी अंशका अभाव या दोष है। किन्तु निर्दोष उत्कर्षकी हम अपने मनमें कल्पना कर ले सकते हैं: और एक बार अपने मनमें उसकी प्रतिमा स्थापित कर लेनेपर उसकी प्रतिमूर्तिकी सृष्टि भी कर सकते हैं। जैसे संसारमें कभी निर्दोष मनुष्य नहीं मिलता, जितने मनुष्य देख पड़ते हैं उन सबमें कोई न कोई दोष अवश्य है। किन्तु हम उन सब दोषोंको त्यागकर, सुन्दर कान्तिमात्रके सौन्दर्यको ध्यानमें रखकर, एक निर्दोष मूर्तिकी कल्पना कर सकते हैं। और, मनमें कल्पना करके पत्थरकी एक निर्दोष प्रतिमा गढ़ी जाती है। इस प्रकार उत्कर्षकी चरम सृष्टि ही काव्य चित्र आदिका उद्देश्य है।

जैसे सभी वस्तुओंके चरम उत्कर्षकी एक सीमा है, वैसे ही शब्दके उत्कर्षकी भी है। बालकोंकी बातें मीठी लगती हैं, युवतीकी आवाज मनको मोह लेती है। वक्ताका स्वर ही वक्तृताका सारांश है। वक्तृता सुननेसे जितना अच्छा लगता है, उतना उसी विषयको पुस्तकमें पढ़ना अच्छा नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि उसमें वह स्वर और उच्चारणकी अदा नहीं है। जिस बातके सहज भावसे कहनेमें कोई रस नहीं मिलता, वही बात किसी रसिकके उच्चारणसे बहुत ही रसीली जान पड़ती है। कभी कभी एक साधारण बातमें इतना शोक, इतना प्रेम या इतना आह्लाद प्रकट होते देखा जाता है, कि शोक, प्रेम या आह्लाद जतानेके लिए लिखे

गये लंबे चौड़े व्याख्यानमें उसका शतांश भी नहीं पाया जाता। क्यों ऐसा होता है? केवल स्वर और उच्चारणके प्रभावसे। उस स्वर या उच्चारणका भी अवश्य ही एक चरम उत्कर्ष है। वह अत्यन्त सुखदायक हो तो आश्चर्य ही क्या है। क्योंकि साधारण स्वर या उच्चारण भी मनको चञ्चल बना देता है। स्वर या उच्चारणका वह चरम उत्कर्ष ही संगीत है। स्वर मनके भावका चिह्न है। अतएव संगीतके द्वारा सब प्रकारके मानसिक भाव प्रकट किये जा सकते हैं।

सभी समयोंमें, सभी देशोंमें, सभी देशोंमें, सभी लोगोंमें भक्ति, प्रेम और आह्लादके सूचक संगीत गाये जाते हैं। केवल दुष्टता प्रकट करनेवाले संगीत नहीं हैं। जिनसे राग-द्वेष आदि भाव व्यक्त होते हैं वे शब्द गीतोंमें नहीं है। रणवाद्य आदि अवश्य हैं, किन्तु वे हिंसाके लिये उत्तेजित करनेवाले नहीं हैं। उनका काम केवल उत्साह बढ़ाना ही है। कल्पनाके द्वारा हम क्रोध, अहङ्कार आदि दुष्टभावोंके वर्णनको गीतमें भावसिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु वह वर्णन केवल कल्पनात्मक रहता है। समझाये बिना वह समझमे नहीं आता। इस कारण ऐसे गीत स्वभावसंगत नहीं होते। शोक करनेवाले गीत हैं। वे गीत अत्यन्त मनोहर हैं। किन्तु शोक क्रूरभाव नहीं है, वह करुणाके अन्तर्गत होनेसे भक्ति और प्रेमकी श्रेणींमें ही आ जाता है।

इसके उपरान्त राग-रागिनियोंके सम्बन्धमें कुछ कहना है। जैसे तेतीस आदि-देवोंसे तेतीस करोड़ देवोंकी सृष्टि हुई है, वैसे ही छः रागों और छत्तीस रागिनियोंसे, अद्भुत कल्पनाके प्रभावसे, असंख्य उपराग उपरागिनी और उनके लड़के, नाती-पोते तक कल्पित हुए हैं। यह बड़ा ही रहस्य है। हिन्दुओंकी बुद्धि अत्यन्त कल्पना-कुतूहलसे परिपूर्ण है। उसने शब्दार्थ मात्रको मनुष्य-चरित्र-विशिष्ट बना डाला है।

प्राकृतिक वस्तुओं या शक्तियों भरको देव-पदवी दे दी है। पृथ्वी देवी है, आकाश, इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु सभी देवता हैं; नद-नदी भी देव देवी हैं। सब देव-देवी मनुष्यके समान शरीरधारी हैं। उन सबके स्त्री, पति, पुत्र, पौत्र आदि हैं। तर्कके द्वारा पहले यह सिद्ध हुआ कि इस जगतकी सृष्टि करनेवाला एक कोई है। वह ब्रह्मा है। देखा जाता है कि घट पट आदि वस्तुओंकी सृष्टि करनेवाला एक हाथ-पैरोंवाला साकार पुरुष होता है। इस कारण ब्रह्मा भी साकार और हाथ पैरोंवाले हैं। अधिकता यह है कि उनके चार मुँह हैं। उनके एक ब्रह्माणीका होना भी जरूरी ठहरा। एक ब्रह्माणी भी हैं। ऋषिगण उनके पुत्र हुए। हंस उनका वाहन हुआ—नहीं तो चलते-फिरते वे कैसे?—ब्रह्मलोकमें गाड़ियाँ या पालकियाँ तो हैं नहीं। कल्पना करनेवालोंको केवल इतनेहीसे सन्तोष नहीं हुआ। मनुष्य जैसे काम, क्रोध आदिके वशीभूत, महापापी होते हैं वैसे ही ब्रह्मा भी कन्याहारी हैं।

जहाँ सृष्टिकर्ता आदि अप्रमेय पदार्थ—आकाश, नक्षत्र, पहाड़, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थ—अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक क्रियायें—काम आदि मानसिक वृत्तियाँ—इत्यादि सब मूर्ति-विशिष्ट पुत्र-स्त्री-युक्त और सभी विषयोंमें मनुष्यस्वभावसम्पन्न हैं, वहाँ स्वर-समष्टि रागके लिए इन बातोंकी कल्पनाका होना क्या विचित्र है? वे भी साकार गृहस्थ माने गये। रागके साथ रागिनीकी कल्पना हुई। केवल यही नहीं कि हर एक रागके एक ही एक रागिनी हो। वे भी बंगाली कुलीन ब्राह्मण, पालीगेमिस्ट, हैं। एक एक रागके छः छः रागिनियाँ हैं। संगीतके रसिकोंको इतनेहीसे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने रागोंको पूरा बाबू बना डाला। रागिनीके ऊपर उपरागिनियोंकी भी कल्पना हुई। उपरागिनियोंके लिए उपरागोंकी भी कल्पना हुई। राग-रागिनी वगैरहके लड़के-बाले और पोते-पोती भी देख पड़े।

किन्तु यह सब केवल दिल्लगी भी नहीं है। इस दिल्लगीके भीतर विशेष सारांश है। राग-रागिनियोंको आकार देना केवल दिल्लगी नहीं है। शब्दशक्तिको कौन नहीं जानता? इस बातको सब जानते हैं कि किसी खास शब्दको सुनकर मनमें किसी खास भावकी उत्पत्ति हुआ करती है। किसी दृश्य वस्तुको देखकर भी उसी भावका उदय हो सकता है। मान लो, हमने कभी किसी पुत्र-शोकसे व्याकुल माताके रोनेके ध्वनि सुनी। यह भी मान लो कि वह रोनेवाली हमें देख नहीं पड़ती। हम केवल उसके रोनेकी ध्वनि सुन रहे हैं। उस ध्वनिको सुनकर हमारे मनमें शोकका आविर्भाव हुआ। फिर हम जब वैसा ही रोनेका शब्द सुन पायँगे, हमको वही शोक याद आ जायगा—वैसे ही शोकका आविर्भाव होगा।

मान लो, अन्यत्र हमने देखा कि पुत्र-शोकसे आतुर माता बैठी हुई है। वह रोती नहीं है; किन्तु उसका चेहरा देखनेसे ही हमने उसकी उत्कट मानसिक यंत्रणाका अनुभव कर लिया। उस सन्तापसे क्लेश-प्राप्त मलिन मुख-मण्डलका भाव हमारे हृदयमें अंकित हो गया। तबसे जब वैसा मलिन शोकार्त चेहरा देखेंगे तभी हमको वह शोक याद आ जायगा—हृदयमें उस शोकका आविर्भाव होगा।

अतएव वह ध्वनि और वह मुखका भाव, दोनों ही हमारे मनमें शोकके चिह्नस्वरूप हैं। वैसी ध्वनिसे वही शोक याद हो आवेगा। मानव-प्रकृतिके नियमके अनुसार इसका एक और विचित्र फल होता है। शब्द और चेहरेका ढंग, दोनों ही शोकके चिह्न होनेके कारण परस्पर एक दूसरेकी याद दिलाते है। वैसी क्रन्दनध्वनि सुन पड़ते ही वैसा चेहरा याद आ जाता है। वैसा चेहरा देखते ही वैसी क्रन्दन-ध्वनि

स्मरण हो आती है। इस प्रकार वारम्वार दोनोंके एक साथ याद आनेके कारण दोनों ही दोनोंकी प्रतिमा बन जाते हैं। वह शोकसूचक चेहरा उस शोकसूचक ध्वनिकी साकार प्रतिमा जान पड़ता है।

ध्वनि और मूर्तिके इस परस्पर सम्बन्धके अवलम्बनसे ही प्राचीन लोगोंने राग-रागिनियोंकी साकार कल्पना करके, उनके, ध्यानोंकी रचना की है। उन ध्यानोंसे प्राचीन आर्योंकी विचित्र कवित्वशक्ति और कल्पनाशक्तिका परिचय प्राप्त होता है। हम लोग पूर्वपुरुषोंकी कीर्तिकी जितनी आलोचना करते हैं, उतना ही उनकी महानुभावताको देखकर विस्मित होते हैं।

दो एक उदाहरण दिये जाते हैं। अनेक लोगोंने टोड़ी रागिनी सुनी होगी। सहृदय पुरुष उसे सुनकर जिस एक अनिर्वाचनीय भावमें मग्न हो जाते हैं, वह सहजमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। साधारणतः जिसे 'आवेश' कहते हैं वह इस भावका एक अंशमात्र है—किन्तु एक अंशमात्र ही है। उसके साथ भोगकी अभिलाषा भी मानो सम्मिलित है। वह भोगकी अभिलाषा नीच-प्रवृत्ति नहीं है। जो भोग निर्मल और सुख देनेवाला है, जिसको अन्य जनकी अपेक्षा नहीं है, जो केवल आध्यात्मिक है, उसी भोगकी अभिलाषा। किन्तु उस भोगकी अभिलाषाकी सीमा नहीं है, तृप्ति नहीं है। उसमें न निरोध है और न शासन है। भोग और भोगसुख-अभिलाषा लोटपोट हो जाती है। आकांक्षा बढ़ उठती है। प्राचीन लोगोंने इस टोड़ी रागिनीकी मूर्तिकी इस प्रकार कल्पना की है कि वह परमसुन्दरी युवती, वस्त्र-अलंकारसे आभूषित, किन्तु विरहिणी है। आकांक्षाकी निवृत्ति न होनेके कारण ही वह विरहिणी कल्पित हुई है। यह विरहिणी सुन्दरी वनविहारिणी है। वनमें, एकान्तमें, अकेले बैठकर मद्यपानसे उन्मत्त-सी हो रही है।

वीणा बजाकर गा रही है। उसके वस्त्राभूषण अपने अपने स्थानसे गिरेसे पड़ते हैं। वनकी हरिणियाँ उसके आगे आकर चुपचाप खड़ी हुई हैं।

यह चित्र अनिर्वचनीय सुन्दर है। किन्तु सौन्दर्यके अतिरिक्त इसमें एक अद्भुत गुण है। यह टोड़ी रागिणीकी यथार्थ प्रतिमा है। टोड़ी रागिणी सुननेसे मनमें जिस भावका उदय होता है, ठीक वही भाव इस प्रतिमाको देख कर भी उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार अन्यान्य राग-रागिनियोंके ध्यान हैं। मुलतानी रागिनी दीपक रागकी स्त्री है। यह गोरी सुन्दरी लाल कपड़े पहने दीपक रागके पास अवस्थित है। भैरवी रागिनी श्वेतवस्त्र पहने और अनेक अलंकारोंसे आभूषित है। इत्यादि।

इसमें सन्देह नहीं कि इन ध्यानोंके सम्बन्धमें मतभेद है। जब वैज्ञानिक विषयोंमें ही पण्डितोंमें मतभेद पाया जाता है, तब कल्पनाके विषयोंमें अनेक मुनियोंके अनेक मत होना कुछ विचित्र नहीं है। केवल आँख मूँदकर, सोचकर मनसे अलंकारकी सृष्टि करनेपर अलंकारके सम्बन्धमें मतभेद होना आश्चर्य ही क्या है? किन्तु यह सबको स्वीकार करना होगा कि कुछ शब्दोंके द्वारा कुछ भावोंका उदय होता है। तर्क करनेवाले लोग कह सकते हैं कि कोमल स्वरसे यदि शोक भी सूचित होता है, प्रेम भी सूचित होता है, उन्माद भी सूचित होता है, तो स्वरभेदके द्वारा एक ही भावकी उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है? इसके उत्तरमें यही कहना है कि वह उपलब्धि केवल संस्कारके अधीन है। हमारी संगीतविद्यामे स्वर कई हैं और भेद भी असीम हैं। किन्तु केवल शिक्षा और अभ्याससे ही उनके तारतम्यकी उपलब्धि होती है। साधारण अभ्यासके कारण ही लड़के शहनाई सुनकर खुशीसे नाचने लगते हैं, हाइलेंडर बगपाइपमें शरीर फुलाते हैं (?)। यह अभ्यास

बद्धमूल और सुशिक्षामें परिणत होनेसे भाव-स[illegible] उत्पन्न होती है—सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपसे अनुभव किया जा सकता है। शिक्षाहीन मूढ़लोग जिसमें हँसते है, भावुक उसीमें भावातिरेकसे रोने लगते है। अतएव लोगोंका यह साधारण संस्कार कि सगीत-सुखका अनुभव मनुष्यके लिए स्वभाव-सिद्ध है, भ्रमपूर्ण है। एक सीमातक यह सत्य है कि अच्छी आवाज सबको अच्छी लगती है—स्वाभाविक तालका बोध सबको होता है, किन्तु उच्च श्रेणीके संगीतके सुखका अनुभव शिक्षाके बिना नहीं हो सकता। जिनको अभ्यास नहीं वे जैसे प्याज नहीं खाना चाहते, वैसे ही अशिक्षित लोग उत्कृष्ट सगीतको सुनना नही चाहते। दोनों ही बातें अभ्यासके अधीन हैं। संस्कारहीन लोग राग-रागिणी-परिपूर्ण पक्का गाना सुनना नहीं चाहते और बहुत अनुप्रासोंसे युक्त यूरोपका संगीत हिन्दुस्तानियोंके लिए जंगलमें रोनेके बराबर है। किन्तु इन दोनोंके लिए अनादरका भाव असभ्यताका चिह्न है। जैसे राजनीति, धर्मनीति, विज्ञान, साहित्य आदि विषयोंको जानना सब मनुष्योंके लिए उचित है, वैसे ही शरीरके स्वास्थ्यके लिए व्यायाम और मनोरञ्जनके लिए मनोमोहिनी सगीतविद्या जानना भी हरएक भले आदमीका कर्तव्य है। अभ्याससम्बन्धिनी विद्याओंमें संगीत सर्वप्रधान है। हम लोगोंके भले घरोंमें लड़कियाँ और लड़कोंको संगीत शिक्षा देना निषिद्ध समझा जाना, हमारी असभ्यताका चिह्न है। स्त्रियोंके संगीतनिपुण होनेपर घरमें एक विमल आनन्दकी गगा बहती है। शौकीनोंका मद्यपान और एक अन्य दोष उससे बहुत कुछ दूर हो सकता है। इस देशमें निर्मल आनन्दके अभावसे ही बहुत लोग मद्यपान करने लगते हैं—संगीत-प्रियतासे ही बहुत लोग वेश्याओंके घर जाते और बिगड़ने लगते हैं।

नवीन लेखकोंके लिए उपदेश

(१) यशके लिए न लिखना। अगर यशके लिए लिखोगे तो यश भी न मिलेगा और तुम्हारी रचना भी अच्छी न होगी। रचना अच्छी होनेसे यश आप ही प्राप्त होगा।

(२) रुपयेके लिए न लिखना। यूरोपमें इस समय अनेक लोग रुपयेके लिए लिखते हैं और रुपये पाते भी हैं। उनकी रचना भी अच्छी होती है। किन्तु हमारे यहाँ अभी वह दिन नहीं आया। इस समय यहाँ रुपयेके लिए लिखनेसे लोकरञ्जनकी प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। और, हमारे देशके वर्त्तमान साधारण पाठकोंकी रुचि और शिक्षापर ध्यान देकर लोकरञ्जनकी ओर झुकनेसे रचनाके विकृत अनिष्टका कारण हो उठनेकी सम्पूर्ण संभावना है।

(३) अगर तुम अपने मनमें यह समझो कि लिखकर देश या मनुष्य-जातिकी कुछ भलाई कर सकोगे, अथवा किसी सौन्दर्यकी सृष्टि कर सकोगे तो अवश्य लिखो। जो लोग अन्य उद्देश्यसे लिखते हैं वे लेखककी उच्च पदवीको नहीं पा सकते।

(४) जो असत्य और धर्मविरुद्ध है, जिसका उद्देश्य पराई निन्दा, दूसरेको पीड़ा पहुँचाना या स्वार्थ-साधन है, वह लेख कभी हितकर नहीं हो सकता। इस कारण ऐसा लिखना सर्वथा त्याज्य है। सत्य और धर्म ही साहित्यका लक्ष्य है। और किसी उद्देश्यसे कलम उठाना महापाप है।

(५) जो लिखो उसे वैसे ही प्रकाशित न कर दो। कुछ दिनों तक उसे डाल रक्खो। कुछ दिनों बाद उसका संशोधन करो। तब तुम्हें देख

पड़ेगा कि तुम्हारे लेखमें अनेक दोष हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास आदिको लिख कर दो एक वर्ष डाल रखकर फिर संशोधन करनेसे वे विशेष उत्कर्षको प्राप्त करते हैं। किन्तु जो लोग सामायिक साहित्यकी सेवा करते हैं उनके लिए यह नियम नहीं है। इसी कारण लेखकके लिए सामयिक साहित्य अवनतिका कारण हुआ करता है।

(६) जिस विषयमें जिसकी गति नहीं है उस विषयमें उसे हाथ न डालना चाहिए। यह एक सीधी बात है। पर सामयिक साहित्यमें इस नियमकी रक्षा नहीं होती।

(७) अपनी विद्या या विद्वत्ता दिखानेकी चेष्टा मत करो। अगर विद्या होती है तो वह लेखमें आप ही प्रकट हो जाती है, चेष्टा नहीं करनी पड़ती। विद्या प्रकट करनेकी चेष्टासे पाठक खीझ उठते हैं और उससे रचना-सौन्दर्यको भी विशेष हानि पहुँचती हैं। आज कलके लेखोंमें अँगरेजी, संस्कृत, फ्रेंच और जर्मन भाषाओंके उद्धरण (कोटेशन) बहुत अधिक देख पड़ते हैं। जो भाषा तुम्हें मालूम नहीं, उस भाषाके किसी वाक्य या अंशको औरोंके ग्रन्थकी सहायतासे कभी मत उद्धृत करो।

(८) अलंकारोंके प्रयोग या मज़ाक लानेके लिए चेष्टा न करना। किसी किसी स्थानमें अलंकार या व्यंगका प्रयोजन अवश्य होता है; किन्तु लेखकके भंडारेमें यदि यह सामग्री होगी तो प्रयोजनके समय आप उपस्थित हो जायगी और भंडारेमें न होगी तो सिर पटकनेपर भी नहीं आ सकती। असमयमें या भंडारा सूना होनेपर अलंकारोंके प्रयोग या विनोदकी चेष्टाके समान उपहासकी बात और नहीं है।

(९) यह एक प्राचीन विधि है कि जिस स्थानपर अलंकार या व्यंग बहुत सुन्दर जान पड़े उस स्थानको काट देना चाहिए।

किन्तु मैं यह बात नहीं कहता। पर मेरी सलाह यह है कि उस स्थानको अपने मित्रोंके आगे वारम्बार पढ़ो। अगर वह अच्छा न होगा तो लेखकको आप ही अच्छा न लगेगा—मित्रोंके आगे पढ़नेमें भी लज्जा मालूम होगी। तब उसे काट देना ही ठीक जान पड़ेगा।

(१०) सब अलकारोंसे श्रेष्ठ अलंकार सरलता है। जो सरल शब्दोंमें सहज रीतिसे पाठकोंको अपने मनका भाव समझा सकते हैं वे ही श्रेष्ठ लेखक हैं। क्योंकि लिखनेका उद्देश्य ही पाठकोंको समझाना है।

(११) किसीका अनुकरण मत करो। अनुकरणमें दोषोंका ही अनुकरण होता है, गुणोंका नहीं। इस बातको कभी मनमें जगह मत दो कि अमुक अँगरेजी, संस्कृत या हिन्दीके लेखकने ऐसा लिखा है तो मैं भी वैसा लिखूँ।

(१२) जिस बातका प्रमाण न दे सको वह भी मत लिखो। प्रमाणोंके प्रयोगकी यद्यपि सब समय आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रमाणका हाथमें रहना बहुत जरूरी है।

हर एक जातिकी भाषाका साहित्य उस जातिके लिए आशा-भरोसा होता है। उन जातियोंके लेखक यदि इन नियमोंपर ध्यान रक्खेंगे तो उनकी भाषाके साहित्यकी श्रीवृद्धि शीघ्रताके साथ होगी।

भारतवर्ष पराधीन क्यों है ?

भारतवर्ष कई सौ वर्षोंसे पराधीन क्यों है ? इस प्रश्नके उत्तरमें सब लोग कहा करते हैं कि भारतके लोग हीन-बल हैं। इसी कारण “ Effeminate Hindoos. ” यूरोपियनोंकी जिह्वापर सदा बना रहता है। यही भारतका कलंक है। किन्तु उधर यूरोपियनोंके मुखसे ही

भारतवर्षके सिपाहियोंके बल और साहसकी प्रशंसा सुनी जाती है। उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिन्दुओंके बलसे ही काबुल जीता गया। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिन्दुओंकी सहायतासे उन्होंने भारतवर्षको जीता है। वे स्वीकार करें या न करें, उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिन्दुओंके—मराठे और सिक्खोंके—निकट अनेक युद्धोंमें उन्हें परास्त भी होना पड़ा है।

आधुनिक हिन्दुओंका बल-वीर्य इस समय चाहे जैसा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह प्राचीन हिन्दुओंके बल-वीर्यकी अपेक्षा हीन है। हजारों वर्षोंकी अधीनतासे उसका ह्रास अवश्य ही हो गया है। प्राचीन भारतके लोग अन्य जातियोंके द्वारा विजित होनेके पहले विशेष बलशाली थे। ऐसा समझनेके अनेक कारण हैं। दुर्बल होनेके कारण वे पराधीन नहीं हुए।

हम स्वीकार करते हैं कि इस पक्षका समर्थन करना सहज नहीं है और इस विषयके यथेष्ट प्रमाणोंको प्राप्त करना भी दुस्साध्य है। इस तर्ककी मीमांसा केवल इतिहासके ही सहारे हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश अन्याय जातियोंकी तरह भारतवर्षीय लोग अपनी कीर्तियोंको लिखकर रख नहीं गये हैं। प्राचीन भारतवर्षका इतिहास नहीं है। इसी कारण भारतवर्षके लोगोंकी जो प्रशंसनीय युद्धकीर्ति थी वह भी लुप्त हो गई है। जो ग्रन्थ 'पुराण' के नामसे प्रसिद्ध हैं उनमें यथार्थ इतिहास कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह अस्वाभाविक अमानुषिक कथाओंसे ऐसा ढका हुआ है कि यथार्थ घटनाका निश्चय किसी तरह नहीं होता।

भाग्यवश अन्य देशोंके ऐतिहासिकोंके ग्रन्थोंमें दो जगह प्राचीन भारतवर्षके लोगोंके युद्ध आदिका उल्लेख पाया जाता है। पहला हाल

तो तबका है जब मेसीडोनियाके अलेग्जंडर या सिकन्दर दिग्विजयकी यात्रा करके भारतमें आकर लड़े थे। रचना-कुशल यवन-लेखकोंने उस युद्धका वर्णन किया है। दूसरे, मुसलमानोंने भारतको जीतनेके लिए जो उद्योग किये थे, उनका विवरण मुसलमान लेखक अपने ग्रन्थोंमें लिख गये हैं। किन्तु ऐसी गवाहीमें पक्षपातकी भारी संभावना है। चित्रकारके मनुष्य होनेके कारण ही चित्रमें सिंह मनुष्यके द्वारा परास्त देख पड़ता है। ऐसे ऐतिहासिकोंकी संख्या बहुत कम है जो अपनी जातिके लाघव या पराभवको स्वीकार करके सत्यके अनुरोधसे शत्रुपक्षके यशका कीर्तन करते हैं। अपेक्षाकृत मूढ़ आत्मगौरवपरायण मुसलमानोंकी बात जाने दीजिए, सुशिक्षित, सत्यनिष्ठाका अभिमान रखनेवाले यूरोपके इतिहास-लेखक भी इस दोषसे ऐसे कलंकित हैं कि उनके ग्रन्थ पढ़ते पढ़ते कभी कभी घृणा उत्पन्न हो आती है। इसी कारण इस देशके और शत्रुपक्षके, दोनों ओरके इतिहास-लेखकोंकी सहायता मिले बिना किसी घटनाके यथार्थरूपका निर्णय नहीं किया जा सकता। केवल आत्मगौरव-परायण परधर्मावलम्बी सत्यभीत मुसलमान लेखकोंकी बातपर निर्भर करके प्राचीन भारतवर्षके लोगोंकी युद्धनिपुणताकी मीमांसा नहीं की जा सकती। खैर, जो कुछ हो, निम्नलिखित दो बातें मुसलमान इतिहास-लेखकोंके ग्रन्थोंसे ही विचारके द्वारा सिद्ध होती हैं।

एक तो यह कि अरबदेशके लोग एक प्रकारसे दिग्विजयी हो चुके थे। उन्होंने अनेक देशोंको जीतकर पृथ्वीपर अतुल साम्राज्य स्थापित किया। वे केवल दो देशोंसे हारकर निकाले गये। पश्चिममें फ्रान्ससे और पूर्वमें भारतसे। अरबके लोगोंने मुहम्मदकी मृत्युके बाद छः वर्षमें सीरियाको, दस वर्षमें फारिसको, एक सालमें आफ्रिका और स्पेनको, अठारह वर्षमें काबुलको और आठ वर्षमें तुर्किस्तानको सम्पूर्ण-

रूपसे अपने अधिकारमें कर लिया था। किन्तु वे भारतवर्षको जीतनेके लिए तीनसौ वर्षतक यत्न करके भी उसे हस्तगत नहीं कर सके। मुहम्मद-बिन कासिमने सिन्धुदेशपर अवश्य अधिकार कर लिया था, किन्तु राजपूतानेने उनको हराकर बाहर निकाल दिया और उनके मरनेके कुछ दिनों बाद राजपूतोंने सिन्धुदेशपर फिर अधिकार कर लिया। दिग्विजयी अरब भारतको जीत नहीं सके। एलफिन्स्टन कहते हैं कि हिंदुओंका अपने धर्मके प्रति दृढ़ अनुराग ही उनके यों अजेय होनेका कारण था। किन्तु हम कहते हैं, नहीं, युद्ध-निपुणता और लड़नेकी शक्ति ही इसका कारण था। हिन्दुओंका अपने धर्मपर अनुराग तो अभी तक प्रबल है। फिर वे क्यों लगातार सात-सौ वर्षोंसे अन्य जातियोंके अधीन है ?

दूसरे यह कि जब किसी प्राचीन देशके निकट किसी नवीन अभ्युदयको प्राप्त और विजयकी अभिलाषा रखनेवाली जाति अवस्थिति करती हैं तब प्राचीन जाति प्रायः नवीन जातिके प्रभुत्वके अधीन हो जाती है। इस प्रकारकी सर्वान्तकारिणी और विजयाभिलाषिणी जाति प्राचीन यूरोपमें रोमन और एशियामें अरब और तुर्कोंकी थी। जो जाति इनके सम्पर्कमें आई, वही परास्त होकर अधीन हो गई। पहले ही कहा जा चुका है कि कितने थोड़े समयमें अरबके लोगोंने मिसर, उत्तर आफ्रिका, स्पेन, फारिस, टर्की और काबुलके राज्योंको काबूमें कर लिया था। इनकी अपेक्षा भी अधिक सुप्रसिद्ध कुछ साम्राज्योंका उदाहरण दिया जा सकता है। रोमन लोगोंने ईस्वी सन्‌के २०० वर्ष पहले ग्रीसपर आक्रमण किया था। तबसे बावन वर्षके बीचमें ही उन्होंने सम्पूर्ण ग्रीसको बिलकुल अपने वशमें कर लिया। सुप्रसिद्ध कार्थेज राज्यको ईस्वी सन्‌के २६४ वर्ष पहले, अर्थात् १२० वर्षके

बीचमें ही रोमन लोगोंने विध्वंस करके अपने अधीन बना लिया। पूर्व-रोमन या ग्रीक-साम्राज्य चौदहवीं शताब्दीके प्रथम भागमें तुर्कों-द्वारा आक्रान्त होकर सन् १४५३ ई० में, अर्थात् ५० वर्षके बीच, टर्कोंके दूसरे मुहम्मदके हाथसे लोपको प्राप्त हो गया। पश्चिम रोमन जिसका नाम अभीतक जगतमें वीर-दर्पकी पताका समझा जाता है, वह भी सन् २८६ ई० में उत्तरकी बर्बर जातिके द्वारा पहले आक्रान्त होकर, सन् ४७६ ई० में, अर्थात् प्रथम बर्बर-विप्लवके १९० वर्षोंके बीचमें ही ध्वसको प्राप्त हो गया। सन् ६६४ ई० मे पहले पहल अरबके मुसलमानोंने भारतपर आक्रमण किया। उस सालसे ५२९ वर्षोंके बाद शहाबुद्दीन गोरी उत्तर भारतपर अधिकार कर सका। किन्तु शहाबुद्दीन गोरी या उसके अनुचर अरब नहीं थे। जैसे अरब लोगोंका यत्न निष्फल हुआ, वैसे ही गजनीके रहनेवाले तुर्कोंकी भी चेष्टा व्यर्थ हुई। जिन्होंने पृथ्वीराज, जयचन्द और सेनवशीय राजाओंसे उत्तर-भारतका राज्य छीना, वे पठान या अफगान थे। अरबोंके प्रथम भारताक्रमणके ५२९ वर्ष बाद और तुर्कोंके प्रथम भारताक्रमणके २१३ वर्ष बाद उक्त पठानोंने भारतके राज्यपर अधिकार कर पाया। पठान लोग कभी अरब या तुर्क लोगोंके समान समृद्धिशाली या प्रतापी न थे। उन्होंने केवल पहलेके अरब और तुर्क लोगोंके सूचित कार्यको सम्पन्न किया *। अरब, तुर्क और पठान, इन तीनों जातियोंकी यत्नपरम्परासे साढ़े पाँचसौ वर्षमें भारतवर्षकी स्वाधीनता मिटी।

मुसलमान साक्षी यही कहते हैं। यह भी स्मरण रखना उचित है कि इन्होंने जब हिन्दुओंका परिचय पाया, तब हिन्दुओंका सुदिन बीत

---

* पश्चिम अंशमें अरब और तुर्क लोग केवल कुछ भूमिपर अधिकार कर सके थे।

चुका था—राजलक्ष्मी क्रमशः फीकी पड़ रही थी। ईस्वी सन्‌के पहले-वाले हिन्दू अधिकतर बलवान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उसी समय यहाँके लोगोंके साथ ग्रीक लोगोंका परिचय हुआ। वे खुद अद्वितीय बलशाली थे। उन्होंने बारम्बार भारतवर्षके लोगोंके साहस और युद्ध-निपुणताकी प्रशंसा की है। मेसीडोनियाके विप्लवके वर्णनके समय ग्रीक-लेखकोंने बार बार लिखा है कि एशियामें ऐसी युद्ध-निपुण दूसरी जाति उन्होंने नहीं देखी। यह भी लिखा है कि हिन्दुओंने ग्रीक-सेनाको जितनी हानि पहुँचाई, उतनी और किसी जातिने नहीं। प्राचीन भारतवर्षके लोगोंकी युद्ध-निपुणताके सम्बन्धमें अगर किसीको संशय हो, तो उसे भारतवर्षका वृत्तान्त लिखनेवाले ग्रीक लोगोंके ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

भारतभूमि सर्वरत्नप्रसविनी होनेके कारण अन्य देशोंके राजा इसे सदा लोभकी दृष्टिसे देखते आये हैं। इसी कारण अकसर अनेक जातिके लोगोंने आकर उत्तर पश्चिम और पहाड़ी रास्तेसे प्रवेश कर भारतपर अधिकार जमानेकी चेष्टा की है। ईरानी, यवन, बाल्हिक, शक, हूण, अरब, तुर्क आदि सब यहाँ आये हैं और सिन्धुके पार अथवा दोनों किनारोंपर कुछ दिनोंके लिए कुछ जगहपर अधिकार करके फिर निकाल दिये गये हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक आर्य लोग सब जातियोंको शीघ्र या देरमें दूर करके अपने देशकी रक्षा कर सके। पृथ्वीपर ऐसी कोई जाति नहीं है, और शायद कभी न थी, जिसने पन्द्रहसौ वर्षोंतक प्रबल जातियोंके आक्रमण रोककर इतने दिनोंतक अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा की हो। इतने अधिक दिनोंतक हिन्दुओंकी समृद्धि अक्षय रहनेका कारण निस्सन्देह उनका बाहुबल ही था अन्य कोई कारण नहीं।

इन सब प्रमाणोंके रहते भी सर्वदा सुना जाता है कि हिन्दूलोग

रण-विमुख या युद्ध करनेमें असमर्थ हैं। अदूरदर्शी लोगोंके निकट भारतवर्षके इस चिर-कलङ्कके तीन कारण हैं—

१—हिन्दुओंका इतिहास नहीं है। अपने गुणोंको अगर आप न गावें तो और कौन गावेगा? संसारका स्वभाव ही यह है कि जो कोई अपनेको महापुरुष कहकर परिचय नहीं देता, उसे कोई आदमियोंमें ही नहीं गिनता। कब किस जातिने दूसरी जातिके गुण गाये हैं? रोमन लोगोंके युद्ध-पाण्डित्यका प्रमाण रोमनोंका लिखा हुआ इतिहास है। ग्रीक लोगोंके वीर होनेका परिचय ग्रीक लोगोके लिखे ग्रन्थोंसे मिलता है। मुसलमानोंके बहादुर होनेकी बात भी हमें केवल मुसलमानोंके ही लेखोंसे जान पड़ती है। केवल इसी बातके न होनेसे कोई हिन्दुओंके गौरवको नहीं मानता। क्यों कि हिन्दुओंकी उस बातका कोई गवाह नहीं है।

२—जो जातियाँ दूसरोंके राज्योंपर आक्रमण करती हैं, छीननेकी चेष्टा करती हैं, वे ही युद्ध-कुशल कहकर अन्य जातियोंके निकट परिचित होती हैं। जिन्होंने केवल आत्म-रक्षा मात्रमें सन्तुष्ट रहकर दूसरेका राज्य छीननेकी इच्छा नहीं की, उन्होंने कभी वीर-गौरव नहीं पाया। न्यायनिष्ठा और वीर-गौरवका साथ प्रायः नही देखा जाता। अभीतक हमारी भाषामें 'भले-मानुस' का अर्थ डरपोक, निकम्मा आदमी किया जाता है। 'अमुक बहुत ही भला या सीधा आदमी है, इसका अर्थ यही है कि वह किसी कामका नहीं।

हम यह नहीं कहते कि हिन्दू राजा दूसरोंके राज्य लेनेके लोभसे बिल्कुल ही शून्य थे। वे परस्पर आक्रमण भी किया करते थे। किन्तु भारतवर्ष हिन्दुओंके राज्यकालमें छोटेछोटे मण्डलोंमें बँटा हुआ था। यह इतना बड़ा देश है कि छोटे छोटे माण्डलिक राजा कभी उसके बाहर

देश-जयकी इच्छासे नहीं जाते थे। कोई हिन्दू राजा कभी सारे भारतको अपने साम्राज्यके अन्तर्गत नहीं ला सका। इसके अलावा हिन्दू यवन-म्लेच्छ आदि अन्यधर्मावलम्बी जातिके लोगोंसे विशेष घृणा करते थे। उनके ऊपर प्रभुत्व करनेकी चेष्टा करनेकी उनके द्वारा कोई संभावना नहीं, बल्कि उन यवनादिके देशोंको जीतनेकी यात्रामें अपने जाति-धर्मके नष्ट होनेकी शंका करनेकी संभावना ही अधिक जान पड़ती है। सच है कि इस समयके काबुल-राज्यका अधिकांश उस समय हिन्दुओंके राज्यमें था, किन्तु उस समय वह भारतका ही एक हिस्सा समझा जाता था।

३—हिन्दू बहुत दिनोंसे पराधीन हैं। जो जाति बहुत दिनोंसे पराधीन है उसका वीर-गौरव कैसा ? किन्तु इस समयके हिन्दुओंकी वीर्यकी कमी प्राचीन हिन्दुओंके अपमानका उपयुक्त कारण नहीं है। प्रायः अनेक देशोंमें देखा जाता है कि वहाँके प्राचीन और आधुनिक लोगोंमें चरित्रका सादृश्य अधिक नहीं है। इटली और ग्रीस, भारतवर्षकी तरह इस बातके उदाहरण है। मध्यकालके इटालियन और ग्रीकोंके चरित्रसे प्राचीन रोमन और ग्रीकोंको कायर सिद्ध करना जैसे अन्याय है, वैसे ही आधुनिक भारतवर्षकी लोगोंकी पराधीनतासे प्राचीन आर्योंमें बलकी कमी सिद्ध करना भी अन्याय है।

हम यह भी नहीं कहते कि आधुनिक भारतवर्षके लोग बिलकुल ही कायर या नामर्द हैं और इसी लिए इतने दिनोंसे पराधीन हैं। इस पराधीनताके और ही कारण हैं। हम उनमेंसे इस जगहपर दो कारणोंका विस्तारके साथ वर्णन करेंगे।

एक तो यह कि यहाँके लोगोंमें स्वभावसे ही स्वाधीनताकी आकांक्षा नहीं है। ऐसा खयाल भारतवर्षके लोगोंके मनमें आता ही नहीं कि

अपने देश और अपनी जातिके लोग हमपर शासन करें, विदेशीय, विजातीय लोगोंके शासनके अधीन क्यों रहे ? यह बात यहाँके लोगोंके हृदयसे मेल ही नहीं खाती कि अपनी जातिके राजाका शासन मंगलकर या सुखका आकर है और विजातीय राजाका दण्ड पीड़ादायक अपमानका कारण है। उन्हें यह बोध तो है कि परतन्त्रताकी अपेक्षा स्वतन्त्रता अच्छी है; किन्तु वह बोध मात्र है; आकांक्षामें परिणत नहीं। अनेक वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारा यह ज्ञान हो सकता है कि वे अच्छी हैं उस ज्ञानसे उन सभी वस्तुओंके प्रति हमारे हृदयमें आकांक्षा नहीं उत्पन्न होती। हरिश्चन्द्रके दानीपन और कार्शियसके देशवात्सल्यकी प्रशंसा कौन नहीं करता ? किन्तु उनमेंसे कितने हरिश्चन्द्रकी तरह सर्वस्व त्यागने या कार्शियसकी तरह आत्मघात करनेके लिए प्रस्तुत होंगे ? प्राचीन या आधुनिक यूरोपकी जातियोंके लोगोंमें स्वातन्त्र्यप्रियता प्रबल आकांक्षाके रूपमें परिणत देख पड़ती है। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता छोड़नेके पहले सर्वस्व और प्राण तकका त्याग, कर्तव्य है। किन्तु हिन्दुओंमें यह बात नहीं है। वे समझते हैं कि "जिसकी इच्छा हो वह राज्य करे, हमारा क्या ? चाहे अपनी जातिका हो और चाहे दूसरी जातिका, दोनों राजा समान हैं। चाहे स्वजातीय हो और चाहे विजातीय, सुशासन करनेसे दोनों समान हैं। इसका क्या ठीक कि स्वजातीय राजा सुशासन करेगा और विजातीय राजा सुशासन न करेगा ? यदि इसका निश्चय नहीं है तो फिर हम स्वजातीय राजाके लिए क्यों जान दें ? राज्य राजाकी सम्पत्ति है। वह उसे अपने अधिकारमें रख सके तो रक्खे। हमारे लिए स्वजातीय विजातीय दोनों समान हैं। कोई हमारी आयसे छट्ठा हिस्सा 'कर' लेनेमें एक कौड़ीकी रिआयत न करेगा और कोई चोरको पुरस्कार न देगा। चाहे जो राजा हो, हम उसके लिए कुछ आपत्ति न करेंगे।"

हम इस समय स्वतन्त्रता-प्रिय अँगरेजोंके निकट शिक्षा प्राप्त करके इन सब बातोंके भ्रमको जान रहे हैं। किन्तु किसी जातिका दूसरी जातिके द्वारा शासित होना अस्वाभाविक भी नहीं है—इसकी भ्रान्तिका सहजमें अनुमान भी नहीं किया जा सकता। प्रकृतिके अनुसार कोई जाति असभ्यताके समयसे ही स्वातन्त्र्यप्रिय है और कोई जाति सुसभ्य होकर भी उसके प्रति आस्था-रहित है। इस संसारमें अनेक स्पृहणीय वस्तुयें हैं। किन्तु सब लोग सभी चीजोंको पानेकी चेष्टा नहीं करते। धन और यश दोनों ही स्पृहणीय हैं। किन्तु साधारणतः हम देख पाते हैं कि कोई धनसञ्चयमें ही लगा हुआ है, यशका उसे कुछ भी खयाल नहीं, और दूसरा आदमी यश चाहता है, यशके लिए धन लुटानेमें उसे कुछ भी संकोच नहीं। मोहन धनसंञ्चयको ही अपने जीवनका व्रत बनाकर कृपणता, नीचता आदि दोषोंसे यशकी हानि कर रहा है और सोहन अमित धन लुटाकर उदारता आदि गुणोंसे यशका सञ्चय कर रहा है। मोहन भ्रान्त है या सोहन, इसका निर्णय करना सहज नहीं है। कमसे कम यह निश्चय है कि दोनोमेंसे किसीका कार्य स्वभावविरुद्ध नहीं है। इसी तरह ग्रीक लोग स्वाधीनताप्रिय हैं, हिन्दू लोग स्वाधीनता-प्रिय नहीं हैं—वे शान्ति सुखके अभिलाषी हैं। यह केवल जातीय स्वभावकी विचित्रता है। इसमें विस्मय करनेकी कोई बात नहीं है।

किन्तु बहुत लोग यह बात नहीं समझते। हिन्दुओंके स्वाधीन होने और स्वाधीनता लाभके लिए उत्सुक न होनेके कारण वे यह अनुमान करते हैं कि हिन्दू दुर्बल (कमजोर) हैं, लड़ाईसे डरते हैं, स्वाधीनता प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं। वे यह नहीं समझते कि हिन्दू साधारणतः स्वाधीनता पानेकी अभिलाषा और यत्न ही नहीं करते। अगर वे इसकी अभिलाषा या यत्न करते तो प्राप्त कर सकते थे।

हम यह नहीं कहते कि स्वतन्त्रतापर अश्रद्धा केवल आधुनिक हिन्दुओंका स्वभाव है। यह हिन्दू जातिका सदाका स्वभाव जान पड़ता है। जो लोग यह समझते हैं कि हिन्दू लोग सातसौ वर्षसे स्वतन्त्रता-हीन होकर इस समय स्वतन्त्रताकी आकांक्षासे शून्य हो गये हैं, उनका अनुमान ठीक नहीं है। संस्कृतके साहित्यमें भी कहीं ऐसा कुछ नहीं मिलता कि उससे प्राचीन हिन्दुओंको स्वाधीनताके लिए प्रयास करने-वाला सिद्ध किया जा सके। पुराण-उपपुराण-काव्य-नाटक आदिमें कहीं स्वाधीनताका गुण-गान नहीं है। मेवाड़के सिवा और कहीं नहीं देखा जाता कि कोई हिन्दू-समाज स्वतन्त्रताकी आकांक्षासे किसी काममें प्रवृत्त हुआ हो। राजाका राज्य-सम्पत्तिकी रक्षाके लिए यत्न, वीरका वीरदर्प, क्षत्रियका युद्ध करनेका प्रयास—इन बातोंके बहुतसे उल्लेख देखे जाते हैं। किन्तु स्वतन्त्रता पानेकी आकांक्षा उनके बीचमें नहीं है। स्वातन्त्र्य, स्वाधीनता, ये सब नई बातें हैं।

भारतवर्षीय लोगोंकी इस प्रकार स्वतन्त्रताके प्रति स्वभावसिद्ध अव-हेलाके कारणका अनुसन्धान ऐसा नहीं कि किया न जा सके। भारतवर्षकी भूमिकी उपजाऊ शक्ति और वायुमें तापकी अधिकता आदि इसके गौण कारण हैं। पृथ्वी उपजाऊ है, देश सब सामग्रियोंसे परिपूर्ण है, थोड़े परिश्रमसे निर्वाह हो जाता है, लोगोंको अधिक परिश्रम करना नहीं पड़ता, इससे यहाँके लोगोंको अवकाश भी यथेष्ट है। शारीरिक परिश्रमसे अधिक अवकाश मिलनेपर सहजमें ही मनकी गति आभ्यन्तरिक होती है। ध्यान और चिन्तनकी अधिकता होती है। उसका एक फल कवित्व और जगतके तत्त्वोंमें पाण्डित्य है। इसी कारण हिन्दूलोग थोड़े ही समयमें अद्वितीय कवि और दार्शनिक हो गये हैं। किन्तु मनकी आभ्यन्तरिक गतिका दूसरा फल बाह्य सुखोंके प्रति

आस्थाका न होना है। बाह्य सुखोंके प्रति आस्था न होनेसे निश्चेष्ट भाव आ जाता है। स्वतन्त्रताके प्रति आस्थाका न होना इस स्वाभाविक निश्चेष्टताका एक अंशमात्र है। आर्योंके धर्मतत्त्व और दर्शनशास्त्रमें यह चेष्टाहीनताका भाव सर्वत्र विद्यमान है। क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या जैन, क्या पौराणिक, सभी धर्म इस निश्चेष्टताकी संवर्द्धनासे परिपूर्ण हैं। वेदसे वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है। उनके अनुसार लय या भोगकी निवृत्ति ही मोक्ष है—निष्काम भाव ही पुण्य है। बौद्धधर्मका निर्वाण ही मुक्ति है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि हिन्दूजाति सदासे स्वतन्त्रताका आदर करना नहीं जानती, तो यहाँ मुसलमानोंकी अमल्दारी होनेके पहले साढ़े पाँच हजार वर्षतक उन्होंने क्यों यत्नपूर्वक विजातियोंको विमुख करके स्वाधीनताकी रक्षा की ? विजातीय लोग कभी सहजमें यहाँसे हटे न होंगे,—बड़ी मुश्किलसे यह काम हुआ होगा। जिस सुखके प्रति आस्था न थी, उसके लिए हिन्दू-समाजने इतना कष्ट क्यों स्वीकार किया ?

इस बातका प्रमाण कहीं नहीं मिलता कि हिन्दू-समाजने कभी शक यवन आदिको विमुख करनेके लिए विशेष यत्न किया। हिन्दू नरपतियोंने ही अपनी राज-सम्पत्तिकी रक्षाके लिए यत्न किया था। उनकी संग्रह की हुई सेना युद्ध करती थी; जब हो सकता था, शत्रुको विमुख करती थी। इसीसे देशकी स्वतन्त्रताकी रक्षा होती थी। इसके सिवा इस बातका कोई प्रमाण नहीं कि "हम अपने देशमें विदेशीय राजा न होने देंगे" यह विचार कर साधारण लोगोंने कभी उद्योग किया हो या उत्साह दिखाया हो। बल्कि इसके विरुद्ध होना ही यथार्थ जान पड़ता है। जब समर-लक्ष्मीकी कोपदृष्टिके प्रभावसे हिन्दू

राजा या हिन्दू सेनापति रणमें मारा गया तभी उसकी सेना युद्ध छोड़कर भाग गई—फिर युद्धके लिए एकत्र नहीं हुई। फिर किसके लिए युद्ध करती ? जब राजा मर गया या अन्य कारणोंसे उसने राज्य-रक्षाकी चेष्टा छोड़ दी, तब हिन्दुओंका युद्ध समाप्त हो गया। फिर किसीने उस राजाके स्थानपर खड़े होकर स्वतन्त्रताकी रक्षाका उपाय नहीं किया; साधारण समाजसे अरक्षित राज्यकी रक्षाका उद्योग नहीं हुआ। जब भाग्यके फेरसे यवन, ईरानी, शक या बाल्हीक किसी प्रदेश-खण्डके राजाको रणमें हरा कर उसके सिंहासनपर जा बैठे, तभी प्रजाने अपने पहले स्वामीकी तरह उन अनार्य राजाओंका भी आदर किया। राज्यके छीननेमें उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। तीन हजार वर्षसे अधिक समय तक, आर्योंके साथ आर्यजातीय, आर्यजाति-योंके साथ भिन्नजातीय, भिन्नजातीयोंके साथ भिन्नजातीय—मगध (बिहार) के साथ कान्यकुब्ज, कान्यकुब्जके साथ दिल्ली, दिल्लीके साथ लाहौर, हिन्दुओंके साथ पठान, पठानोंके साथ मुगल—लड़-झगड़कर सदा समरकी आग जलाकर देशको नष्टभ्रष्ट करते खाकमें मिलाते रहे। किन्तु इन सब युद्धोंमें केवल राजाके साथ राजाकी लड़ाई होती थी। साधारण हिन्दू समाजने कभी किसीकी ओर होकर किसीके युद्ध नहीं किया। हिन्दू राजाओं अथवा हिंदुस्तानके राजाओंको बारबार भिन्न जातीयोंने जीता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण हिन्दू समाज कभी किसी अन्य जातिकेद्वारा जीता गया है। क्यों कि साधारण हिन्दू जातिने कभी किसी अन्य जातिके साथ युद्ध ही नहीं किया।

इस विचारमें हिन्दू जातिकी बहुत दिनोंकी पराधीनताका दूसरा कारण प्रकट हो गया। उस कारणको हिन्दूसमाजकी फूट, समाजमें जातीय भावकी स्थापनाका अभाव, जातिहितैषिताकी कमी, आदि चाहे

जो कुछ कहिए। हम यहाँपर विस्तारके साथ उसे समझानेकी चेष्टा करते हैं।

मैं हिन्दू हूँ, तुम हिन्दू हो, यह हिन्दू है, वह हिन्दू है, और भी लाखों हिन्दू हैं। इन लाखों हिन्दुओंकी जिसमें भलाई है उसीमें मेरी भी भलाई है। जिसमें उनका मंगल नहीं है उसमें मेरा भी मंगल नहीं है। अतएव सब हिन्दुओंका जिसमें मंगल हो वही मेरा कर्तव्य है और किसी भी हिन्दूका जिसमें अमंगल हो वही अकर्त्तव्य है। जैसे मेरा इस प्रकार कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य है वैसे ही तुम्हारा भी है, इसका भी है, उसका भी है, सभी हिन्दुओंका है। जब सभी हिन्दुओंका एक ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य है, तब सब हिन्दुओंको चाहिए कि एक सलाह करके, एकमत होकर, मेलके साथ हरएक कार्य करें। यह ज्ञान जाति (नेशन) की स्थापनाका प्रथम भाग है।

हिन्दूजातिके अलावा पृथ्वीपर अन्य अनेक जातियाँ है। उनके हरएक भलाईके कामसे हमारी भलाई होना असंभव है। बहुत स्थानोंमें उनके मंगलसे हमारे अमंगलकी ही संभावना है। जिस जगह उनके मंगलसे हमारा अमंगल है, उस जगह हम वही करेंगे जिसमें उनका मंगल न हो। इसमें परजाति-पीड़न करना होगा तो हम वह भी करेंगे। जिस तरह उनके मंगलसे हमारे अमंगलकी संभावना है, वैसे ही हमारे मंगलसे उनके अमंगलकी संभावना है। हो तो हो, हम उसके लिए अपनी जातिकी भलाई करनेसे निवृत्त न होंगे। दूसरी जातिका अमंगल करके अपनी जातिकी भलाई करनी होगी तो हम वह भी करेंगे। जातिकी स्थापनाका यह दूसरा भाग है।

किन्तु देखा जाता है कि इस प्रकारकी मनोवृत्ति निष्पाप शुद्धभाव कहकर स्वीकार नहीं की जा सकती। इसमें भारी दोषपूर्ण विकार

है। उस विकारसे जातके सर्वसाधारणको ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि पराई जातिके मंगल मात्रसे अपनी जातिका अमंगल है, और पर-जातिके अमगलमात्रसे अपनी जातिका मंगल है। इसी कुसंस्करणके वशवर्ती होकर यूरोपकी जातियोंने अनेक दुःख भोगे है। उन्होंने वृथा ही अनेक बार युद्धकी आग जलाकर यूरोपको दग्ध किया है।

किन्तु स्वजाति-प्रतिष्ठा चाहे भली हो चाहे बुरी, जिस जातिमें यह बलवती होती है वही अन्य जातियोंकी अपेक्षा प्रबलता प्राप्त करती है। आज-कल यूरोपमें इस ज्ञानने विशेष प्रधानता प्राप्त की है और इसके प्रभावसे वहाँ अनेक विप्लव होते देख पड़ते हैं। इसीके प्रभावसे इटलीमें एक राज्यकी स्थापना हुई है। इसीके प्रभावसे विषम प्रतापशाली नवीन जर्मन-साम्राज्यकी स्थापना हुई है (और अभी अभी एक जगद्व्यापी घोर युद्ध चल कर समाप्त हुआ है।) और भी क्या क्या होगा, सो कहा नहीं जा जकता।

हम यह नहीं कहते कि भारतवर्षमें, किसी भी समय, यह जाति-प्रतिष्ठा थी ही नहीं। यूरोपके पण्डितोंने यह निश्चय किया है कि आर्यजातिके लोग सदासे भारतवर्षके रहनेवाले नहीं हैं। अन्यत्रसे भारतमें आकर उन्होंने उसपर अधिकार किया है। पहले आर्योंने जब जय प्राप्त की, तब वेद आदिकी सृष्टि हुई। वैदिक मन्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं कि वैदिक कालमें और उसके कुछ उपरान्त भी आर्य लोगोंमें जातिप्रतिष्ठाका भाव विशेष प्रबल था। उस कालके समाजके नियामक ब्राह्मणोंने जिस प्रकार समाज-शृंखला स्थापित की थी, उससे भी जातिप्रतिष्ठाके भावका परिचय प्राप्त होता है। आर्यवर्णोंमें और शूद्रोंमें जो विषम भेद देख पड़ता है—आर्यवर्णों और शूद्रोंके

शासनमें जो आकाश-पतालका अन्तर देख पड़ता है, वह भी जाति-प्रतिष्ठाके भावका ही फल है। किन्तु क्रमशः आर्य-वंश विस्तृत होता गया और तब यह जाति-प्रतिष्ठाका भाव नहीं रहा। आर्यवंशके लोगोंने विस्तृत भारतवर्षके अनेक प्रदेशोंपर अधिकार करके स्थान स्थानपर एक एक खण्ड-समाजकी स्थापना की। भारतवर्ष इस प्रकारके बहुतसे खण्ड-समाजोंमें बँट गया। समाज-भेद, भाषा-भेद, आचार-व्यवहारका भेद, अनेक भेद अन्तको जाति-भेदके रूपमें परिणत हो गये। बाल्हीकसे पौण्ड्र तक, काश्मीरसे चोल और पाण्ड्य तक, सारी भारतभूमि मधुमक्खियोंसे परिपूर्ण शहदके छत्तेकी तरह अनेक जाति और समाजोंसे परिपूर्ण हो गई। अन्तको कपिलवस्तुके राजकुमार शाक्यसिंहने एक अभिनव धर्मकी सृष्टि की। अन्यान्य भेद तो मौजूद ही थे, धर्मभेद भी उत्पन्न हो गया। देशभेद, भाषाभेद, राज्यभेद, धर्मभेदके आगे एकजातीयता कहाँ टिक सकती थी? सागरके भीतरके मत्स्यदलकी तरह भारतवर्षके लोग एकतासे शून्य हो गये। उसके बाद मुसलमान आये। मुसलमानोंका वंश भी यहीं बढ़ने लगा। उसके बाद सागरकी लहरके ऊपर लहरकी तरह नये नये मुसलमान-सम्प्रदाय पाश्चात्य पर्वतमाला पार होकर आने लगे। इस देशके हजारों आदमी राजाकी कृपाके लोभसे या राजाके द्वारा सताये जानेके डरसे मुसलमान होने लगे। अब भारतवर्षके निवासियोंमें हिन्दू और मुसलमान दो जातियाँ हो गईं। हिन्दू, मुसलमान, मुगल, पठान, राजपूत, महाराष्ट्र एकत्र काम करने लगे। तब जातिमें एका कैसे रहता? एकेका ज्ञान किस तरह रहता?

इस प्रकार भारतवर्षमें अनेक जातियाँ हो गईं। निवासस्थानके भेदसे, भाषाके भेदसे, वंशके भेदसे, धर्मके भेदसे अनेक जातियाँ हो गईं। बंगाली, पंजाबी, मराठे, राजपूत, जाट, हिन्दू, मुसलमान, इनमें कौन किसके साथ एका करता? धर्मका मेल है तो वंशका मेल नहीं, वंशका

मेल है तो भाषाका मेल नहीं, भाषाका मेल है तो निवासस्थानका मेल नहीं। राजपूतों और जाटोंका धर्म एक है, तो भिन्न वंशमें उत्पन्न होनेके कारण वे भिन्नजातीय है। बंगाली और बिहारी अगर एक वंशके हैं, तो उनकी भाषायें भिन्न हैं। केवल यही नहीं, भारतका ऐसा भाग्य है कि जहाँ किसी प्रदेशके लोग सब बातोंमें एक हैं—जिनका धर्म, भाषा, जाति, देश सब एक है—वहाँ उनमें भी जातिकी एकताका ज्ञान नहीं है। बंगालियोंमें बंगाली जातिकी एकताका बोध नहीं हैं, सिखोंमें सिखजातिकी एकताका बोध नहीं। इसका भी विशेष कारण है। बहुत समयतक भिन्न जातियाँ जब एक बड़े साम्राज्यके बीचमें रहती हैं, तब क्रमशः जाति-ज्ञान या जातीयताका भाव लुप्त हो जाता है। भिन्न भिन्न नदियोंकी जल-राशि जब समुद्रमें आकर मिल जाती है, तब उसमें यह नहीं जाना जा सकता कि अमुक नदीका अमुक जल है। वैसे ही बृहत् साम्राज्यके अन्तर्गत भिन्नजातियोंका ही यही हाल होता है। उनका अलगाव जाता रहता है, किन्तु ऐक्य नहीं उत्पन्न होता। रोमन साम्राज्यके भीतर आई हुई जातियोंकी ऐसी ही दशा हुई थी। हिन्दुओंकी भी वही दशा हुई है। भारतवर्षमे अनेक कारणोंसे बहुत दिनोंसे जाति-प्रतिष्ठा उठ गई है। जाति-प्रतिष्ठाके उठ जानेके कारण ही कभी हिन्दू समाजके द्वारा किसी जातीय कार्यका संपादन नहीं हुआ। जाति-प्रतिष्ठा उठ जानेके कारण ही हिन्दुओंके राज्यासनपर बिना आपत्तिके हिन्दू-समाजने सब जातिके राजाओंको बिठा लिया। इसी कारण हिन्दू समाजने कभी स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेके लिए उँगली भी नहीं उठाई।

इतिहासमें उल्लिखित समयके बीच केवल दो बार हिन्दू समाजमें जाति-प्रतिष्ठाका उदय होते देखा गया है। एक बार महाराष्ट्र प्रदेशमें शिवाजीने इस महामन्त्रका पाठ किया था। उनके सिंहनादसे महाराष्ट्र

प्रदेश जग उठा था। उस समय मराठोंमें भ्रातृभाव देख पड़ा था। इसी महामन्त्रके बलसे मराठोंने उस मुगल-साम्राज्यको नष्ट कर दिया, जिसपर पहले किसीने विजय नहीं पाई थी। सारा भारत मराठोंके हाथमें आ गया था। भारतके सभी राजाओंने मराठोंके चरणोंमें सिर झुकाया था।

दुसरी बार रनजीतसिंहने 'खालसा' का महामन्त्र पढ़कर ऐसा ही चमत्कार दिखाया। जातीय बन्धन दृढ़ होनेपर पठानोंका अपना देश भी कुछ कुछ हिन्दुओंके हाथमें आगया था। सतलजके उसपार सिंहनाद सुनकर निर्भीक अँगरेज भी शंकित हो उठे थे। भाग्यवश वह सिंह मर गया। लार्ड डलहौसीने होशियारीके साथ 'खालसा' के महामन्त्रका चमत्कार मिटा दिया। किन्तु रामनगर और चिनियानवालाकी लड़ाई इतिहासमें अंकित हो गई।

जब किसी प्रदेश-खण्डमें जाति-प्रतिष्ठाका उदय होनेसे इतना हुआ तब सम्पूर्ण भारत अगर एक-जाति बनकर जातीय भावसे परिपूर्ण हो उठता, तो क्या नहीं हो सकता था ?

अँगरेज लोग भारतवर्षके परम उपकारी हैं। अँगरेज लोग हमें नई नई बातें सिखा रहे हैं। जो हम कभी जानते न थे वही जना रहे हैं, जो हमने कभी देखा सुना और समझा नहीं था वही हमको दिखा, सुना और समझा रहे है। जिस मार्गमें हम कभी चले नहीं, उस मार्गमें किस तरह चलना चाहिए, सो हमको सिखा दिया। इन शिक्षाओंमें अनेक शिक्षायें अमूल्य हैं। जो अमूल्य रत्न हमको अँगरेजोंके ज्ञानभाण्डारसे मिले हैं उनमेंसे दोका इस प्रबन्धमें उल्लेख किया गया है—एक स्वातन्त्र्य-प्रियता और द्वितीय जाति-प्रतिष्ठा *। हिन्दू इन्हें पहले नहीं जानते थे।

* इस प्रबन्धमें जहाँ जाति शब्द आया है वहाँ उसका अर्थ Nution-ality या Nation समझना चाहिए।

बाहुबल और वाक्यबल

इतिहासमें सामाजिक दुःख दूर करनेके केवल दो उपाय कहे गये हैं—बाहुबल और वाक्यबल। इन दोनों बलोंके संबधमें हमें जो कुछ कहना है, वह कहनेके पहले सामाजिक दुःखकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है।

मनुष्यके दुःखके तीन कारण हैं।—(१) कुछ दुःख जड़ पदार्थोंके दोषसे होते हैं। बाह्य जगत् कुछ नियमोंके अधीन होकर चलता है—कुछ शक्तियोंके द्वारा शासित हो रहा है। मनुष्य भी बाह्य जगतका एक अंश है। इस कारण उसपर भी वे ही शक्तियाँ शासन करती हैं। नैसर्गिक नियमोंका उल्लंघन करनेसे रोग आदि कष्ट देते है, भूख-प्यास पीड़ा पहुँचाती है और अनेक प्रकारके शारीरिक मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं। (२) बाह्यजगतकी तरह अन्तर्जगत् भी मनुष्यके और एक दुःखका कारण है। कोई पराई बढ़ती देखकर सुख पाता है, कोई इन्द्रियसंयमसे सुखी होता है और किसीके लिए इन्द्रियसंयम घोर दुःख है। पृथ्वीके सब काव्यग्रन्थोंका आधार इसी श्रेणीका दुःख है। (३) मनुष्यके दुःखका तीसरा कारण समाज है। मनुष्य सुखी होनेके लिए समाज-बन्धनमें पड़ता है। परस्परकी सहायतासे परस्पर अधिक सुखी होनेकी आशासे सब मिलकर रहते हैं। इससे विशेष उन्नति अवश्य होती है, किन्तु बहुत अमंगल भी होते हैं। समाजमें दुःख भी है। दारिद्र्यका दुःख सामाजिक दुःख है। जहाँ समाज नहीं है, वहाँ दारिद्र्य भी नहीं है।

कुछ सामाजिक दुःख समाजकी स्थापनाके ही फल हैं, जैसे गरीबी।

जैसे प्रकाशके साथ अन्धकार अवश्य होता है वैसे ही दारिद्र आदि कुछ दुःख भी समाजके साथ लगे हुए हैं *। इन सब सामाजिक दुःखोंका मूलच्छेद कभी नहीं हो सकता। किन्तु और भी कुछ सामाजिक दुःख ऐसे हैं जो समाजके नित्य फल नहीं हैं, वे निवृत्त किये जा सकते हैं और उन्हें दूर करना सामाजिक उन्नतिका प्रधान अंश है। समाजके आदमी उन्हीं सामाजिक दुःखोंकी जड़ उखाड़नेके लिए बहुत दिनोंसे चेष्टा करते आ रहे हैं। उस चेष्टाका इतिहास सभ्यताके इतिहासका प्रधान अंश तथा समाजनीति और राजनीति इन दो शास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य है।

इन दो प्रकारके सामाजिक दुःखोंको मैं कुछ उदाहरणोंके द्वारा समझानेकी चेष्टा करूँगा। स्वाधीनताकी हानि एक प्रकारका दुःख है, इसमें सन्देह नहीं। समाजमें रहनेपर अवश्य ही स्वाधीनताकी कुछ हानि उठानी ही पड़ेगी। जितने मनुष्य समाजमें हैं, मैं समाजमें रह कर, सबके कुछ कुछ अधीन हूँ। समाज-संचालकोंका तो मुझपर पूर्ण अधिकार है। अतएव स्वाधीनताकी हानि यह एक समाजका नित्य दुःख है।

स्वानुवर्त्तिता एक परम सुख है और उसकी क्षति परम दुःख है। जगदीश्वरने हमको जो शारीरिक और मानसिक वृत्तियाँ दी हैं उनकी स्फूर्त्तिसे ही हमको मानसिक और शारीरिक सुख मिलता है। यदि

---

* प्रकाश और छायाकी उपमा संपूर्ण और शुद्ध है। यह सत्य है कि हम अपने मनमें ऐसे एक जगतकी कल्पना कर सकते हैं, जहाँ प्रकाशक सूर्यके सिवा और कुछ नहीं—अतएव वहाँ प्रकाश है, छाया नहीं है। वैसे ही हम अपने मनमें ऐसे एक समाजकी भी कल्पना कर सकते हैं, जिसमें सुख है, दुःख नहीं। किन्तु वह जगत् और समाज दोनों ही केवल मनके लड्डू और अस्तित्वशून्य है।

उन्होंने हमको आँखें दी हैं तो देखनेकी सब चीजोंके देखनेसे ही आँखोंका सुख मिल सकता है। आँखें पाकर अगर हम उन्हें सदा बंद ही किये रहें तो आँखोंके सम्बन्धमें हम सदा दुखिया रहे। अगर हम कभी कभी या किसी किसी वस्तुके संबंधमें आँखें बंद करनेके लिए बाध्य हुए, तो हम आँखके सम्बन्धमें कुछ अंशमें दुखी ठहरे। हमको बुद्धि मिली है। बुद्धिकी स्फूर्ति ही हमारा सुख है। अगर हमें अपनी बुद्धिको सदा परिमार्जित करने और अपनी इच्छाके अनुसार चलानेका अवसर न मिला, तो हम बुद्धिके सम्बन्धमें उतना ही दुखिया हुए। अगर हमें किसी विशेष बातमें बुद्धिके काम न लेनेके लिए बाध्य बना दिया गया, तो हम उतना ही बुद्धिके संबंधमें दुखी ठहरे। समाजमें रहकर हम सब दृश्योंको देखने नहीं पाते—सब बातोंमें बुद्धिसे काम लेनेक हमें अवसर नहीं मिलता। मनुष्यको मारकर विज्ञान नहीं सीखने पाते—। अथवा राजाके घरमें घुसकर वहाँका दृश्य देखने नहीं पाते। ये बातें समाजके लिए मंगलकी होने पर भी स्वानुवर्त्तितामें बाधा डालनेवाली हैं। और, इसीसे ये सामाजिक नित्य दुःख हैं।

दारिद्र्यकी बात पहले ही लिखी जा चुकी है। असामाजिक अवस्थामें कोई गरीब नहीं है। वनके फल-मूल और पशु सबको आहारके लिए मिल सकते हैं, नदीके जल और वृक्षकी छाँहमें किसीका इजारा नहीं है। खाना, पीना और आश्रय, जितना शरीर धारण करनेके लिए आवश्यक है, उससे अधिक कोई नहीं चाहता। न वैसा करनेकी कोई आवश्यकता समझता है और न वैसा करता है। इसी कारण एककी अपेक्षा दूसरा गरीब नहीं हो सकता। इसी कारण मानना पड़ता है कि असामाजिक अवस्थामें दरिद्रता नहीं है। दारिद्र्य तो एकसे दूसरेका मुकाबिला करनेकी बात है। वही तारतम्य या एकका दूसरेसे मुका-

बिला सामाजिकताका नित्य फल है। दारिद्र्य इसीसे सामाजिकताका नित्य कुफल है।

ये सब सामाजिकताके फल हैं। जब तक मनुष्य समाजबद्ध रहेगा, तब तक ये नित्य दोष भी बने रहेंगे। किन्तु और भी कुछ सामाजिक दुःख हैं, जो अनित्य हैं और मिटाये जा सकते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि इस देशमें जो विधवायें ब्याह नहीं कर सकतीं, यह सामाजिक कुप्रथा—सामाजिक दुःख है, स्वाभाविक नहीं है। समाजकी गति फिरते ही यह दुःख दूर हो सकता है। हिन्दूसमाजके सिवा अन्य समाजमें यह दुःख नहीं है। ऐसे ही स्त्रियाँ सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं हो सकतीं, यह विलायती समाजका एक सामाजिक दुःख है। व्यवस्थापक सभाकी लेखनीकी एक सतरसे यह दुःख दूर हो सकता है। अनेक समाजोंमे यह दुःख नहीं है। भारतवर्षके लोग अपने देशमें राज-काजके ऊँचे पदोंको नहीं पा सकते, यह एक दूर हो सकनेवाला सामाजिक दुःखका उदाहरण है।

जो सामाजिक दुःख नित्य और अनिवार्य हैं, उन्हें भी दूर करनेके लिए मनुष्य यत्न करते हैं। सामाजिक दरिद्रताको दूर करनेकी चेष्टा करनेवाले लोग यूरोपमें सोशियालिस्ट, कम्युनिस्ट आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। स्वानुवर्तिताके साथ समाजका जो विरोध है, उसे कम करनेके लिए जान स्टुअर्ट मिल Liberty (स्वाधीनता *) नामका ग्रन्थ लिख गये हैं। बहुत लोग इस ग्रन्थको देवप्रसादसे प्राप्त वाक्यके समान मानते हैं। अनिवार्यका निवारण असंभव है। किन्तु अनिवार्य दुःखकी भी मात्रा कम की जा सकती है। सांघातिक रोगकी भी चिकित्सा है—

* यह हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका पहला ग्रन्थ है। अनुवादक—आचार्य महावीरप्रसादद्विवेदी। मूल्य ढाई रुपया।

उसकी यन्त्रणा घटाई जा सकती है। इस कारण जो लोग सामाजिक दुःख दूर करनेकी चेष्टामें लगे हैं, उनके परिश्रमको वृथा समझनेका कोई कारण नहीं है।

नित्य और अपरिहार्य सामाजिक दुःखोंका उच्छेद असंभव हैं। किन्तु अन्य सामाजिक दुःखोंका मूलोच्छेद संभव और मनुष्यके द्वारा साध्य है। उन्हीं दुःखोंको दूर करनेमें मनुष्य-समाज सदा व्यस्त रहता है। मनुष्यका इतिहास उसी व्यस्तताका इतिहास है।

कहा जा चुका है कि समाजके सब नित्य दुःख समाजकी स्थापनाके ही अपरिहार्य फल है—समाजकी सृष्टिसे ही वे उत्पन्न हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि अन्य सामाजिक दुःखोंका कारण क्या है? वे समाजका अपरिहार्य फल न होनेपर भी क्यों होते हैं? उनके निवारणके लिए इस प्रश्नकी मीमांसा होना बहुत आवश्यक है।

इस प्रकारके दुःखोंकी सृष्टि सामाजिक अत्याचारसे होती है। जान पड़ता है, पहले उदाहरणके तौरपर अत्याचारके बारेमें कह देना ठीक होगा, नहीं तो पाठक कहेंगे कि समाजके ऊपर अत्याचार किसका और कैसा? शक्तिके अविहित प्रयोगको अत्याचार कहते है। देखो, माध्याकर्षण आदि जो नैसर्गिक शक्तियाँ हैं वे एक ही नियमपर चलती है—उनमें कमी कमी-बेशी नहीं होती। वह नियम विधिबद्ध और अनुल्लंघनीय है। किन्तु जो शक्तियाँ मनुष्यके हाथमें हैं उनके नियमोंमें ऐसी स्थिरता नहीं है। जो शक्ति मनुष्यके हाथमें है उसका प्रयोग विहित भी हो सकता है और अविहित भी हो सकता है। जितनी शक्तिके प्रयोगसे उद्देश्य सिद्ध हो और किसीका कुछ अनिष्ट न हो, वही विहित प्रयोग है। उससे अधिक अविहित प्रयोग है। बारूदकी

शक्तिके विहित प्रयोगसे शत्रु मरते हैं और अविहित प्रयोगसे तोप फट जाती है। शक्तिका यह अतिरिक्त प्रयोग ही अत्याचार है।

मनुष्य शक्तिका आधार है। समाज मनुष्योंका समूह है और इस लिए वह भी शक्तिका आधार है। उस शक्तिके विहित प्रयोगमें ही मनुष्यका मङ्गल है—दिनोंदिन सामाजिक उन्नति होनेकी संभावना है। अविहित प्रयोगका फल सामाजिक दुःख है। सामाजिक शक्तिका वही अविहित प्रयोग सामाजिक अत्याचार है।

बात अभीतक स्पष्ट नहीं हुई। सामाजिक अत्याचार तो समझमें आ गया, किन्तु अत्याचार करता कौन है? किसके ऊपर अत्याचार होता है? समाज तो मनुष्योंका समूह है। तो क्या ये सब मनुष्य मिलकर अपने ही ऊपर अत्याचार करते हैं? अथवा परस्परकी रक्षाके लिए जिन्होंने समाज-बन्धनको स्वीकार किया है वे ही परस्पर अत्याचार करते हैं? है यही, लेकिन ठीक यही भी नहीं कहा जा सकता। स्मरण रखना चाहिए कि अत्याचार शक्तिहीका होता है। जिसके हाथमें सामाजिक शक्ति है, वही अत्याचार करता है। जैसे ग्रह आदि जड़-पिण्डोंकी माध्याकर्षण शक्ति केन्द्रनिहित है, वैसे ही समाजकी भी एक प्रधानशक्ति केन्द्रनिहित है। वह शक्ति शासन-शक्ति है और समाजके केन्द्र राजा अथवा सामाजिक शासनकर्ता लोग होते हैं। समाज-रक्षाके लिए समाजके शासनकी आवश्यकता है। अगर सभीके हाथमें शासन हो, तो अनियम और मतभेदके कारण शासन होना असंभव हो जाय। इसी कारण हरएक समाजमें शासनका काम एक या उससे अधिक व्यक्तियोंको सौंप दिया जाता है। उन्हींके हाथमें समाजकी शासन-शक्ति रहती है, वे ही सामाजिक केन्द्र होते हैं, वे ही अत्याचार करते हैं। वे मनुष्य हैं और मनुष्यमात्र भ्रम और आत्मा-

दरके भावसे खाली नहीं है। वे भ्रान्त होकर समाजके ऊपर उसीकी दी हुई शासनशक्तिका अविहित प्रयोग करते हैं। आत्मादरके कारण भी कभी कभी वे उस शक्तिका अविहित प्रयोग करते है।

तो अब एक प्रकारके सामाजिक अत्याचारीका पता लग गया। वे राजपुरुष हैं और समाजका अवशिष्ट अंश अत्याचारका पात्र है। किन्तु असलमें इस संप्रदायके अत्याचारी केवल राजा या राजपुरुष ही नहीं हैं। जो लोग समाजपर शासन करते हैं, वे ही इस सम्प्रदायके अत्याचारी हैं। प्राचीन भारतवर्षके ब्राह्मण राजपुरुष नहीं गिने जाते थे, तथापि वे समाजके प्रधान शासक थे। आर्योंके समाजको वे लोग जिधर घुमाते फिरते थे, उधर ही वह घूमाता फिरता था। समाजको वे जो जजीर पहनाते थे, समाज अलंकार समझकर उसे पहन लेता था। मध्यकालीन यूरोपके धर्मयाजक भी इसी तरहके थे—राजपुरुष न होकर भी वे यूरोपियन समाजके शासक और घोर अत्याचारी थे। पोपगण यूरोपके राजा नहीं थे—थोड़ी-सी ही भूमिके राजा थे, किन्तु वे सारे यूरोपपर घोर अत्याचार कर गये हैं। ग्रेगरी या इन्नोसेण्ट, लिओ या आड्रियन यूरोपमें जितना अत्याचार कर गये हैं, उतना दूसरे फिलिप, चौदहवें लुई, आठवें हेनरी और प्रथम चार्ल्स भी नहीं कर सके।

केवल राजपुरुषों और धर्मयाजकोंको ही दोष नहीं दिया सकता। इस समय इँग्लैंडमें राजा या रानी किसी प्रकारका अत्याचार करनेकी क्षमता नहीं रखते—शासन-शक्ति उनके हाथमें नहीं है। इस समय इँग्लैंडमें यथार्थ शासनशक्ति एडीटरोंके हाथमें है। अतएव इँग्लैंडके एडीटर लोग अत्याचारी हैं। जहाँ सामाजिक शक्ति है वहीं सामाजिक अत्याचार है।

किन्तु यह बात नहीं है कि केवल शासक और समाजके व्यवस्थापक लोग ही अत्याचारी हों। अन्य प्रकारके सामाजिक अत्याचारी भी हैं।

जिन विषयोंमें न राजशासन है और न धर्मशासन है—किसी प्रकारके शासनकर्ताका शासन नहीं है—उन विषयोंमें समाज किनके मतपर चलता है ? अधिकांश लोगोंके मतपर। जहाँ समाजका मत एक है, वहाँ कुछ भी गड़बड़ नहीं है—कोई अत्याचार नहीं है। किन्तु इस प्रकारका एक मत होना बहुत दुर्लभ है। मतभेद होनेपर अधिकांशके मतके अनुसार ही थोड़े लोगोंको चलना पड़ता है। थोड़ा अंश अगर भिन्नमतावलम्बी होता है तो भी, और अगर वह अधिकांशके मतके अनुसार काम करनेको घोरतर दुःख समझता है तो भी, उसे अधिकांशके मतके अनुसार ही चलना पड़ता है। नहीं तो समाजका अधिक अंश थोड़े अंशको अपनेसे अलग कर देगा, या अन्य कोई सामाजिक दण्ड देकर पीड़ा पहुँचावेगा। यह घोरतर सामाजिक अत्याचार है। यह अल्पांशके ऊपर अधिकांशका अत्याचार कहलाता है।

इस देशमें अधिकांशका मत हैं कि हिन्दूके घर पैदा होकर कोई विधवाका ब्याह न कर सकेगा या समुद्रयात्रा न कर सकेगा। अल्पांशका मत हैं विधवाका ब्याह करना अवश्य कर्तव्य है और इँग्लैंडकी यात्रा परम इष्ट है। किन्तु यदि यह अल्पांश अपने मतके अनुसार कार्य करे—विधवा कन्याका ब्याह करे और विलायत जाय, तो अधिकांश उसे समाजसे बाहर कर देगा। यही अधिकांशका अल्पांशके ऊपर किया गया अत्याचार है।

इँग्लैंडमें अधिकांश लोग ईसाके भक्त और ईश्वरवादी हैं। जो अनीश्वरवादी है और ईसाका भक्त नहीं हैं, वह साहस करके अपने मतको वहाँ प्रकट नहीं कर सकता। प्रकट करनेसे उसे अनेक प्रकारकी सामाजिक पीड़ाओंसे पीड़ित होना पड़ता है। जान स्टुअर्ट मिल जिन्दगीभर अपनी अभक्तिको व्यक्त नहीं कर सके। व्यक्त न करके

भी, केवल सन्देहपात्र होकर पार्लियामेंटमें प्रवेश करनेके समय उन्हें अनेक विघ्न-बाधाओंसे तंग होना पड़ा था। मृत्युके बाद उन्हें अनेक गालियाँ भी खानी पड़ी थीं। यह अत्यन्त घोर सामाजिक अत्याचार है।

अतएव सामाजिक अत्याचारियोंकी दो श्रेणियाँ हैं। एक समाजके शासक और व्यवस्थापक और दूसरे समाजके अधिकांश लोग। इन्हींके अत्याचारसे सामाजिक दुःखकी उत्पत्ति होती है। ये सामाजिक दुःख समाजकी अवनतिके कारण हैं। इनका निराकरण मनुष्य-साध्य और मनुष्यके लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। किन उपायोंसे इनका निराकरण हो सकता है? ऐसे दो उपाय हैं— एक बाहुबल और दूसरा वाक्यबल।

पहले यह समझाया जायगा कि बाहुबल किसे कहते हैं और वाक्यबल किसे कहते हैं। इसके बाद इन दोनों बलोंका प्रयोग समझाया जायगा और दोनोंका भेद और तारतम्य भी दिखाया जायगा।

किसीको यह बतानेकी जरूरत नहीं है कि जिस बलके द्वारा बाघ मृगके बच्चेको मारकर खा जाता है और जिस बलसे आस्टलिज या सेडन जीता गया था—दोनों ही बाहुबल हैं। मैंने अभी लिखते लिखते देखा, छिपकली मक्खीको पकड़कर निगल गई। सिस्टिससे सिकन्दर तक जितने लोगोंने साम्राज्य स्थापित किये हैं-संसारके बड़े बड़े खलीफाओं और बादशाहोंमेंसे जितनोंने अपने साम्राज्य स्थपित और रक्षित किये हैं, उन सबका बल और इस भूखी छिपकलीका बल एक ही बल—अर्थात् बाहुबल है। सुल्तान महमूद सोमनाथका मन्दिर लूट कर ले गया और यह काले मुँहकी बिल्ली मूसा पकड़कर भाग गई; दोनों ही वीर हैं, दोनोंके बाहुबल है। सोमनाथके मन्दिर और मेरे कपड़े काटनेवाले मूसेमें बहुत अन्तर है, यह बात मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु महमूदके

लाखों सिपाहियों और अकेली बिल्लीमें भी बड़ा अन्तर है। संख्या और शरीरमें अन्तर होनेपर भी दोनोंके पराक्रममें बहुत अधिक अन्तर नहीं देख पड़ता। सागर भी जल है और ओसकी बूँद-भी जल है। महमूदका वह पराक्रम और छिपकली या बिल्लीका पराक्रम एक ही हैं। दोनों कार्य बाहुबलके पराक्रम हैं। पृथ्वीके वीरपुरुष धन्य हैं और उनके गुणोंका कीर्तन करनेवाले 'हिराडोट्स' से 'के' और 'किंगलेक' साहब तक धन्य हैं।

यहाँपर कोई महाशय कह सकते हैं कि केवल बाहुबलसे कभी कोई साम्राज्य नहीं स्थापित हुआ। केवल बाहुके बलसे पानीपत या सेडन नहीं जीता गया—केवल बाहुके बलसे नेपोलियन या मार्लबरो वीर नहीं हुए। हम स्वीकार करते हैं कि कुछ कौशल—अर्थात् बुद्धिबल —बाहुबलके साथ संयुक्त हुए बिना कार्यकारिता नहीं होती। किन्तु कौशल भी केवल मनुष्य वीरका ही कार्य नहीं है। क्या आप यह समझते हैं कि छिपकली मक्खीको या बिल्ली मूसेको बिना कौशलके पकड़ती है? बुद्धिबलके संयोगके बिना बाहुबलकी स्फूर्ति नहीं होती,—बुद्धिबलके बिना जीवके किसी भी बलकी स्फूर्ति नहीं होती।

अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि जिस बलसे पशु और मनुष्य दोनों प्रधानतः स्वार्थसाधन करते है, वही बाहुबल है। असलमें उसे पशुबल कहना चाहिए, किन्तु उसमें सब प्रकारके कार्यकी क्षमता है और निष्पत्तिका वही अन्तिम उपाय है। जिसकी निष्पत्ति और किसी तरह नही होती, उसकी निष्पत्ति बाहुबलसे होती है। ऐसी कोई गाँठ नहीं जो छुरीसे न कटे, ऐसा कोई पत्थर नहीं जो चोटसे न टूटे। बाहुबल इस संसारकी उँची अदालत है—सब अपीलोंके बाद यहीं अपील होती हैं। इसके ऊपर अपील नहीं है। बाहुबल पशुका बल है,

किन्तु मनुष्य अभीतक किसी अंशमें पशु है, इस लिए बाहुबल ही मनुष्यका प्रधान अवलम्बन है।

किन्तु मनुष्य और पशुके बाहुबलमें एक भारी अन्तर है। पशुगण नित्य ही बाहुबलका व्यवहार करते हैं, किन्तु मनुष्यको नित्य बाहुबलके प्रयोगका प्रयोजन नहीं पड़ता। इसके दो कारण हैं। बाहुबल अनेक पशुओंके पेट भरनेका उपाय है। दूसरा कारण यह है कि पशुगण प्रयुक्त बाहुबलके वशीभूत अवश्य हैं, किन्तु प्रयोगके पहले प्रयोगकी संभावनाको वे समझे हुए नहीं रहते। इसके सिवा समाजबद्ध न होनेके कारण वे बाहुबलके प्रयोजनका निवारण नहीं कर सकते। एक पुस्तकमें यह कथा लिखी हुई है कि एक जंगलमें पशुओंने जब देखा कि उनके साथी पशुओंको नित्य सिंह मार मारकर खा जाता है, तब उन्होंने सिंहके साथ यह प्रबन्ध कर लिया कि नित्य पशुओंपर अत्याचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है, नित्य उसके खानेके लिए एक पशु दे दिया जायगा। यहाँपर पशुओंने समाजबद्ध मनुष्यके ऐसा काम किया। सिंहके द्वारा किये जानेवाले नित्यके बाहुबलके प्रयोगको रोक दिया। मनुष्य-बुद्धिके द्वारा समझ सकता है कि किस अवस्थामें बाहुबलके प्रयुक्त होनेकी सम्भावना है और सामाजिक बन्धनके द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है। जितने राजा हैं वे सब बाहुबलसे राजा हैं। किन्तु नित्य बाहुबलके प्रयोगद्वारा उन्हें प्रजापीड़न नहीं करना पड़ता। प्रजा देखती है कि लाखों सिपाही राजाकी आज्ञाके अधीन हैं। राजाकी आज्ञा न मानना या उसका उल्लंघन करना उनके लिए केवल ध्वंसका कारण होगा। अतएव प्रजा बाहुबलके प्रयोगकी संभावना देखकर राजाकी आज्ञाका विरोध नहीं करती। इस तरह बाहुबलका प्रयोग भी नहीं होता और बाहुबलके प्रयोगका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। इधर लाखों सेना जो राजाकी आज्ञाके अधीन है, उसका भी कारण

प्रजाका धन और अनुग्रह ही है। प्रजाका धन जो राजाके खजानेमें है और प्रजाका अनुग्रह जो राजाको प्राप्त है, उसका कारण सामाजिक नियम है। अतएव इस जगतपर बाहुबलका प्रयोग न होनेका मुख्य कारण मनुष्यकी दूरदर्शिता और गौण कारण समाज-बन्धन है।

हम इस प्रबन्धमें गौण कारणको छोड़ भी दे सकते है। हम इस बातकी आलोचना कर रहे हैं कि सामाजिक अत्याचार किस किस बलसे निवृत्त होते है। समाजनिबद्ध हुए विना सामाजिक अत्याचारका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। समाजबन्धन तब सामाजिक अवस्थाओंका नित्य कारण है। जो नित्य कारण है वह विकृतिके कारणके अनुसन्धानमें छोड़ दिया जा सकता है।

ऐसा समझा जा चुका है कि ऐसा करनेसे हमारे शासनके लिए बाहुबलका प्रयोग होगा—वह विश्वास ही बाहुबलके प्रयोगके निवारणका मूल कारण है। किन्तु मनुष्यकी दूरदर्शिता सब समय समान नहीं रहती। वह सब समय बाहुबलके प्रयोगकी आशंका नहीं करती। अक्सर देखा जाता है कि समाजमें जिनकी दृष्टि तीक्ष्ण है, वे ही उसे समझ पाते हैं कि इस अवस्थामें बाहुबलके प्रयोगकी संभावना है। वे औरोंको वह अवस्था समझा देते हैं। लोग समझ जाते हैं। समझते हैं कि यदि हम इस समय कर्त्तव्य-साधन न करेंगे, तो हमारे ऊपर बाहु-बलके प्रयोगकी संभावना है। उसके अशुभ फलकी आशंका करके विपरीत मार्गपर चलनेवाले लोग ठीक राहपर चलने लगते हैं।

अतएव जब समाजका एक भाग दूसरे भागको पीड़ित करता है, तब उसके प्रतिकारके दो उपाय हैं। उनमेंसे एक बाहुबलका प्रयोग है। जब राजा प्रजाको उत्पीड़ित करके सहजमें निरस्त नहीं होता तब प्रजा बाहुबलका प्रयोग करती है। यदि कभी कोई राजाको यह समझा

सकता है कि इस प्रकारका उत्पीड़न करनेसे प्रजाके द्वारा बाहुबलके प्रयोगकी आशका है, तो राजा अत्याचारसे निरस्त हो जाता है।

इँग्लैंडके प्रथम चार्ल्स प्रजाके बाहुबलसे शासित हुए थे, यह सबको मालूम है। चार्ल्सके पुत्र द्वितीय जेम्स बाहुबलके प्रयोगका उद्यम देखकर देशत्यागी हो गये थे। किन्तु साधारणतः इस प्रकारके बाहुबलके प्रयोगका प्रयोजन नहीं होता। बाहुबलकी आशंका ही यथेष्ट है। असीम प्रतापशाली अगर समझें कि किसी काममें प्रजा असन्तुष्ट होगी, तो वे उस कार्यमें कभी हाथ न डालें। सन् १८५७—५८ में देखा गया है कि यद्यपि भारतकी प्रजा बाहुबलमें उनके समकक्ष नहीं है, तथापि प्रजाके साथ बाहुबलकी परीक्षा सुखदायक नहीं है। अतएव वे बाहुबलके प्रयोगकी आशंका देखकर अपने वाञ्छित मार्गमें गमन नहीं करते।

अतएव देखा जाता है कि केवल भावी फल समझा सकनेहीसे बिना प्रयोगके बाहुबलका कार्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रवृत्ति और निवृत्तिको देनेवाली शक्ति और एक दूसरा बल है। उसमें वाक्यके द्वारा समझाना पड़ता है। इसीसे वह यहाँपर वाक्यबलके नामसे लिखा जाता है।

यह वाक्यबल अत्यन्त आदरणीय पदार्थ है। बाहुबलसे मनुष्य-संहार आदि विविध अनिष्ट होते हैं। किन्तु वाक्यबल विना रक्तपातके—विना अस्त्राघातके—बाहुबलका काम निकाल देता है। अतएव इसकी विशेष रूपसे समालोचना होनी चाहिए कि यह वाक्यबल क्या है और इसका प्रयोग, लक्षण और विधान किस प्रकारका है। हमारे देशमें बाहुबलके प्रयोगकी कोई संभावना नहीं है और वर्तमान अवस्थामें वह अकर्त्तव्य भी है। सामाजिक अत्याचारके निवारणका एक मात्र उपाय वाक्यबल है। अतएव वाक्यबलकी उन्नति खास तौरसे की जानी चाहिए।

वास्तवमे बाहुबलकी अपेक्षा सब अंशोंमें वाक्यबल श्रेष्ठ है। अबतक बाहुबलसे संसारकी अवनति ही हुई है। उन्नति जो कुछ हुई है, वह वाक्यबलसे। सभ्यताकी जो कुछ उन्नति हुई है वह वाक्यबलसे ही हुई है। समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति, साहित्य, विज्ञान, शिल्प आदि जिस चीजकी उन्नति हुई है, वाक्यबलसे हुई है। वक्ता, लेखक, दार्शनिक वैज्ञानिक, नीतिवेत्ता, धर्मवेत्ता, व्यवस्थावेत्ता आदि सबका बल वाक्य-बल ही है।

इससे कोई यह न समझे कि बाहुबलके प्रयोगका निवारण ही वाक्य-बलका परिणाम है, या इसीके लिए वाक्यबलका प्रयोग होता है। मनुष्य कुछ कुछ पशुचरित्रको छोड़कर उन्नत अवस्थाको प्राप्त हुआ है। अक्सर मनुष्य भयभीत न होकर भी अच्छे काम करता है। यदि किसी समय एकदम समाज-भरकी किसी विशेष अच्छे काममें प्रवृत्ति हो, तो वह सत्कार्य अवश्य अनुष्ठित होता है। कभी कभी ज्ञानीके उपदेशके बिना ऐसे सत्पथमें सर्वसाधारणकी प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण मनुष्य अज्ञ होते हैं, चिन्ताशील व्यक्ति उन्हें शिक्षा देते हैं। शिक्षा देनेवाले वे उपदेश जब यथाविहित बलशाली होते हैं, तभी समाजके हृदयमें स्थान पाते हैं। जो बिल्कुल समाजके हृदयमें बस जाता है, उसे समाज फिर छोड़ नहीं सकता—उसके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है। उपदेशके वाक्यबलसे आन्दोलित समाजमे विप्लव उपस्थित हो सकता है। वाक्यबलसे जैसा सामाजिक इष्ट सिद्ध होता है, वैसा होनेकी बाहुबलसे कभी संभावना नहीं।

मूसा, ईसा, शाक्यसिंह आदि बाहुबलसे बली नहीं थे, उनके पास केवल वाक्यबल था। किन्तु ईसा, शाक्यसिंह आदिके द्वारा पृथ्वीका जितना भला हुआ है, उसका शतांश भी बाहुबलके द्वारा नहीं हुआ।

यह बात नहीं है कि बाहुबलके द्वारा कभी समाजका इष्ट नहीं होता। आत्मरक्षाके लिए बाहुबल ही श्रेष्ठ है। अमेरिकाके प्रधान उन्नतिकर्त्ता बाहुबल-वीर वाशिंगटन थे। हालेंड और बेल्जियमके प्रधान उन्नतिकर्त्ता बाहुबल-वीर विलियम थे। भारतवर्षकी आधुनिक दुर्गतिका कारण बाहुबलका अभाव ही है। किन्तु साधारणतः यह देख पड़ेगा कि बाहुबलकी अपेक्षा वाक्यबलसे ही जगतका कल्याण होता है। बाहुबल पशुका बल है। वाक्यबल मनुष्यका बल है। किन्तु केवल कुछ बकबक कर लेना ही वाक्यबल नहीं है। कोरे वाक्यके बलको मैं वाक्य-बल नहीं कहता। वाक्यसे जो व्यक्त होता है, उसीको मैं वाक्यबल कहता हूँ। चिन्ताशील मनुष्य चिन्ताके द्वारा जगतके तत्त्वोंको अपने मनसे आविष्कृत करते हैं। वक्ता लोग वाक्यके द्वारा उन तत्त्वोंको लोगोंके हृदयमें जमाते हैं। इन दोनों बातोंके बलकी समष्टिको वाक्यबल कहते हैं।

ये दोनों बल प्रायः एक ही पुरुषमें पाये जाते हैं। कभी कभी दोनों बल भिन्न भिन्न पुरुषोंमें अलग अलग होते हैं। एकत्र हों, या अलग अलग हों, दोनोंका समवाय ही वाक्यबल है। (असमाप्त)

प्यारका अत्याचार

लोगोंका विश्वास है कि केवल शत्रु अथवा स्नेह, दया, अनुकूलता आदिसे रहित व्यक्ति ही हमारे ऊपर अत्याचार करते हैं। किन्तु यह बात हमारे ध्यानमें नहीं आती कि उनकी अपेक्षा भी भारी अत्याचार करने-वाले एक श्रेणीके लोग हैं। जो प्यार करता है वही अत्याचार करता है। प्यार करनेसे ही अत्याचार करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। मैं

अगर तुमको प्यार करता हूँ तो तुमको मेरा मत मानना पड़ेगा, मेरी बात सुननी पड़ेगी, मेरा अनुरोध रखना पड़ेगा। तुम्हारा इष्ट हो या अनिष्ट, तुमको मेरा मत स्वीकार करना पड़ेगा। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि जो प्यार करता है, वह जान-बूझकर तुम्हारी बुराईके लिए तुमसे अनुरोध नहीं करेगा। किन्तु कौन कार्य मंगलजनक है और कौन अमंगलजनक, इसकी मीमांसा कठिन है। इस बारेमें अक्सर दो आदमियोंकी राय नहीं मिलती। ऐसी अवस्थामें कार्यकर्ता और उस कार्यका फल भोगनेवाला इस बातका पूर्ण अधिकारी है कि वह अपने मतके अनुसार ही कार्य करे। मतके विरुद्ध उससे काम करनेका अधिकार केवल राजाको ही है। केवल राजा ही इस लिए इस बातका अधिकारी है कि हम लोगोंने उसे समाजका हित अहित जाननेवाला मानकर राज्यासनपर बिठलाया है। केवल राजाके ही सदसद्विवेकको अभ्रान्त मानकर उसे हमने अपनी प्रवृत्तियोंके दमन करनेका अधिकार दिया है। जो अधिकार हमने दिया है, उसके अनुसार अगर वह कार्य करे तो उससे किसीके ऊपर अत्याचार नहीं हो सकता। परन्तु सब समय और सब विषयोंमें हमारी प्रवृत्तियोंके दमनका अधिकार उसे भी नहीं हमारे जिस कार्यसे वह अन्यके अनिष्टका अनुमान करे, उस कार्यकी प्रवृत्तिको रोकनेका ही उसे अधिकार है। जिस कार्यसे केवल हमारा ही अनिष्ट वह समझे, उस कार्यकी प्रवृत्तिको रोकनेका उसे भी कोई अधिकार नहीं है *। जिससे केवल हमारा अनिष्ट है उससे निवृत्त

* यदि राजाका ऐसा अधिकार स्वीकार किया जाय तो रोगका इलाज न करनेवालों अथवा लड़कपन या बुढ़ापेमें ब्याह करनेवालोंको भी राजदण्ड मिलना चाहिए। और अगर अस्वीकार किया जाय, तो सतीदाह-निवारण आदि नियमोंका समर्थन नहीं किया जा सकता।

होनेकी हमें सलाह देनेका मनुष्यमात्रको अधिकार है। राजा भी सलाह दे सकता है। किन्तु सलाहके सिवा हमें हमारी मर्जीके खिलाफ चलनेके लिए लाचार करनेका अधिकार किसीको नहीं है। समाजके सब लोगोंको अधिकार है कि वे दूसरेका अनिष्ट न करके हरएक कार्यको अपनी अपनी प्रवृत्तिके अनुसार संपादित करें। दूसरेका अनिष्ट करनेसे यह स्वेच्छाचार कहलायेगा और दूसरेका अनिष्ट न होनेसे इसे स्वानुवर्तिता कहेंगे। जो इस स्वानुवर्तितामें विघ्न डालता है, जो किसीका अनिष्ट न होनेके स्थानमें भी हमारे मतके विरुद्ध अपने मतको प्रबल करके उसके अनुसार कार्य करता है वही अत्याचारी है। राजा, समाज, और प्रणयी ये तीन जन इस तरहका अत्याचार किया करते हैं।

राजाके अत्याचारको रोकनेका उपाय बहुत दिन पहले निकाला जा चुका है। समाजके इस अत्याचारको रोकनेके लिए पूर्वकालके कुछ पण्डितोंने अस्त्र धारण किया था। इस विषयमें जॉन स्टुअर्ट मिलका यत्न और विचारनिपुणता उनके माहात्म्यका परिचय देगी। किन्तु प्यारका अत्याचार रोकनेके लिए कभी किसीके यत्न करनेकी बात आजतक देखी सुनी नहीं गई। कवि लोग सर्वतत्त्वदर्शी और अनन्तज्ञानशाली होते हैं। वे कुछ नहीं छोड़ते। कैकेयीके अत्याचारसे दशरथकृत राम-वनवास, द्यूतमें आसक्त युधिष्ठिरके किये भाइयोंके निर्वासन और अन्याय सैकड़ों स्थानोंमें कविगण इस महती नीतिका प्रतिपादन कर गये हैं। किन्तु कविलोग नीतिवेत्ता नहीं होते और नीतिज्ञ लोगोंने प्रकाश्यरूपसे इस विषयमें कभी हस्तक्षेप नहीं किया है। जो कोई मन लगाकर लौकिक व्यापारोंपर दृष्टि डालेगा, वह इस तत्त्वकी समालोचनाके विशेष प्रयोजनीय होनेमें कोई संशय नहीं रख सकता। क्योंकि इस अत्याचारके

करनेवाले अत्याचारी अनेक हैं। पिता-माता, भाई–बहन, स्त्री–स्वामी, पुत्र–कन्या, आत्मीय–कुटुम्ब, सुहृद्-भृत्य, जो कोई प्यार करता है, वही कुछ न कुछ अत्याचार और अनिष्ट करता है। तुम यह इच्छा किये बैठे हो कि अच्छे लक्षणोंवाली, अच्छे कुलकी, अच्छे चरित्रकी कन्या देख कर उसके साथ ब्याह करेंगे। इसी बीचमें तुम्हारे बापने तुमसे बिना पूछे ही किसी लड़कीके साथ तुम्हारे ब्याहकी बात पक्की कर ली। तुम यदि बालिग हो, तो इस विषयमे पिताकी आज्ञा माननेके लिए बाध्य नहीं हो। किन्तु पितृप्रेमके वशीभूत होकर तुमको वही ब्याह करना पड़ा। मान लो, कोई गरीब है। दैवके अनुग्रहसे उसे कोई अच्छी जगह मिल गई और वह दूर देश जाकर गरीबीसे पीछा छुड़ानेका उद्योग कर रहा है। इसी बीचमें माताने रोना धोना मचा दिया। उसे अपनेसे दूर जानेके लिए मना किया। वह मातृप्रेमसे लाचार होकर रह गया। मातृप्रेमके अत्याचारसे उसने अपनेको सदाके लिए गरीबीके गढ़ेमें डाल दिया। लायक भाईके कमाये रुपयेको निकम्मे नालायक भाई नष्ट करते हैं। यह बिल्कुल ही प्यारका अत्याचार है। यह हिन्दू-समाजमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है। भार्याके प्यारके अत्याचारका उदाहरण उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती और स्वामीके अत्याचारके सम्बन्धमें धर्मसे इतना कह देना कर्त्तव्य है कि उनमसे कुछ प्यारके अत्याचार भी होते हैं, किन्तु अधिकांश अत्याचारोंका सम्बन्ध बाहुबलसे ही होता है।

मनुष्य-जीवन प्यारके अत्याचारोंसे पूर्ण है। मनुष्य सदासे अत्याचार-पीड़ित है। प्रथमावस्थामें बाहुबलका अत्याचार था। असभ्य जातियोंमें जो बली था, वही पर-पीड़न करता था। कुछ समय बाद यह अत्याचार राजाके अत्याचार और धनके अत्याचारके रूपमें परिणत हो गया। यह

अत्याचार किसी समाजसे बिल्कुल कभी नहीं उठाया जा सका। द्वितीय अवस्थामें धर्मका अत्याचार, जातीय अवस्थामें सामाजिकताका अत्याचार और सभी अवस्थाओंमें प्यारका अत्याचार पाया जाता है। इन चार प्रकारके अत्याचारोंमें प्यारका अत्याचार किसी अत्याचारकी अपेक्षा हीनबल या कम अनिष्ट करनेवाला नहीं है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि राजा, समाज, या धर्मवेत्ता, कोई भी प्रणयीकी अपेक्षा बलवान् नहीं है। प्रणयीकी तरह कोई भी सदा सब घड़ी सब कामोंमें आकर हस्तक्षेप नहीं करता। इस कारण यह कहा जा सकता है कि प्यारका अत्याचार सबसे बढ़कर अनिष्टकारी है। अन्य अत्याचारोंको रोका जा सकता है—अन्य अत्याचारोंकी सीमा है। क्यों कि अन्यान्य अत्याचारियोंका विरोध करना सहज है। प्रजा, प्रजापीड़क राजाको कभी गद्दीसे उतार देती है और कभी उसके प्राण ही ले लेती है। लोकपीड़क समाज त्याग किया जा सकता है। किन्तु धर्म और स्नेहके अत्याचारसे छुटकारा नहीं है। क्यों कि इनका विरोध करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। कभी कभी बकरीके बच्चेका सालन देखकर बैरागी बाबाकी लार टपक पड़ती है, किन्तु कभी वे गोस्वामीके मांसभोजनके सम्बन्धमें विचार करनेकी इच्छा ही नही करते कि वह उचित है या अनुचित। क्यों कि वे जानते हैं, इस लोकमें चाहे जितना कष्ट हो, पर परलोकमें तो गोलोक अवश्य ही मिलेगा।

मनुष्य जिन अत्याचारोंके अधीन है, उनकी जड़में मनुष्यका प्रयोजन है। जड़ पदार्थको अपने वशमें किये बिना मनुष्य-जीवनका निर्वाह नहीं हो सकता, इस लिए बाहुबलका प्रयोजन है। इसी कारण बाहुबलका अत्याचार भी है। बाहुबलका फल बढ़ानेके लिए समाजका प्रयोजन है। उसके साथ ही समाजका अत्याचार भी है। जैसे परस्पर समाजबन्धनमें

बँध बिना मनुष्य-जीवनका उद्देश्य सुसम्पन्न नहीं होता, वैसे ही परस्पर आन्तरिक बन्धनमें बँधे बिना मनुष्य-जीवनका अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता। अतएव समाजका जितना प्रयोजन है उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक, प्रणयका प्रयोजन है। बाहुबल या समाजका अत्याचार होनेके कारण जिस तरह बाहुबलको या समाजको मनुष्य त्याज्य या अनादरकी चीज नहीं समझते, उसी प्रकार प्रणयका अत्याचार होनेके कारण वह भी त्याज्य या अनादरणीय नहीं हो सकता। किन्तु जैसे मनुष्य अत्याचारी बाहुबल और समाजबलको परित्यक्त या अनादृत न करके धर्मके द्वारा उसे शान्त करनेकी चेष्टा करता है, वैसे ही प्रणयके अत्याचारको भी धर्मके द्वारा शान्त करनेका यत्न करना कर्तव्य है। धर्मका भी अत्याचार अवश्य है। धर्मका अत्याचार रोकनेके लिए अगर अन्य शक्तिका प्रयोग किया जायगा, तो उसका भी अत्याचार होगा। अत्याचारकी शक्ति स्वाभाविक है। यदि धर्मका अत्याचार शान्त कर सकनेवाली कोई शक्ति है, तो वह ज्ञान है। किन्तु ज्ञानका भी अत्याचार है। इसका उदाहरण हितवाद और प्रत्यक्षवाद नामके दो दर्शन हैं। इन दोनोंके वेगसे हृदय-सागरका बहुत-सा हिस्सा सूखे बालूके टापुओंका रूप धारण करता जा रहा है। जान पड़ता है, ज्ञानके अत्याचारपर शासन करनेके लिए मनुष्य किसी शक्तिका व्यवहार न कर सकेगा। कमसे कम इस समय तो यही समझमें आता है।

उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि प्रणयके ही द्वारा प्रणयका अत्याचार शान्त किया जा सकता है। हम स्वीकार करते हैं कि यह बात यथार्थ है। स्नेह यदि स्वार्थपरतासे शून्य हो, तो यह हो सकता है। किन्तु साधारण मनुष्योंकी प्रकृति ऐसी है कि स्वार्थपरताशून्य प्यार इस संसारमें दुर्लभ है। इस बातके असली मतलबको न लेकर अनेक लोग

धर्मकी कोई चाहे जैसी व्याख्या करे, धर्म एक है। केवल दो मूल-सूत्रोंमें मनुष्य मात्रके नीतिशास्त्रका निचोड़ कहा जा सकता है। उनमें एक आत्मसम्बन्धीय और दूसरा पर-सम्बन्धीय है। जो आत्मसम्बन्धीय है वह आत्मसंस्कार-नीतिका मूल कहा जा सकता है। अपने चित्तकी स्फूर्ति और निर्मलताकी रक्षा ही उसका उद्देश्य है। दूसरा सूत्र पर-सम्बन्धीय होनेके कारण यथार्थ धर्म-नीतिका मूल कहा जा सकता है। १—दूसरेका अनिष्ट न करना, २—यथाशक्ति दूसरेकी भलाई करना, यह महती उक्ति जगत् भरके धर्मशास्त्रोंका एकमात्र मूल और एकमात्र फल है। अन्य कोई भी नीतिसे सम्बन्ध रखनेवाली उक्ति कहिए, उसका आदि और अन्त इसीमें लीन हो जायगा। आत्मसंस्कार-नीतिके सब तत्त्वोंके साथ इस महानीति-तत्त्वका ऐक्य है। और, परहित-नीति और आत्मसंस्कार-नीति एक ही तत्त्वकी भिन्न भिन्न व्याख्या मात्र हैं। परोपकारमें प्रवृत्ति और पराये अहितसे निवृत्ति, यही समग्र नीतिशास्त्रके उपदेशोंका सारांश है।

अतएव इसी धर्मनीतिके मूलसूत्रका अवलंबन करनेसे ही प्यारका अत्याचार निवृत्त हो सकता है। जब स्नेह करनेवाला आदमी स्नेहपात्रके किसी काममें हस्तक्षेप करनेको उद्यत होता है, तब उसे अपने मनमें यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं केवल अपने सुखके लिए उसमें हस्तक्षेप नहीं करूँगा। अपना समझकर जिसपर स्नेह रखता हूँ उसका किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं करूँगा। जितना कष्ट सहना पड़े, मैं सहूँगा, तथापि स्नेहपात्रको किसी अनिष्टकार्यमें प्रवृत्त न करूँगा।

यह बात सुननेमें बहुत छोटी और साधारण है और पुरानी जनश्रुतिकी पुनरुक्ति जान पड़ सकती है, किन्तु समयपर इसके अनुसार चलना उतना सहज नहीं है। उदाहरणके तौरपर दशरथकृत राम-निर्वा-

सनकी बातको ही ले लीजिए। इसीके द्वारा इस सामान्य नियमके प्रयोगकी कठिनता बहुतोंकी समझमें आ जायगी। यहाँ कैकेयी और दशरथ दोनों ही प्यारके अत्याचारमें प्रवृत्त हैं। कैकेयी दशरथके ऊपर और दशरथ रामके ऊपर वह प्यारका अत्याचार कर रहे हैं। इनमेंसे कैकेयीका कार्य स्वार्थपर और नीच कहकर चिर परिचित है। कैकेयीका कार्य स्वार्थपर और नीच अवश्य है, किन्तु उसके प्रति इतनी कटूक्तियोंका प्रयोग शायद विहित नहीं कहा जा सकता। कैकेयीने अपने किसी इष्टकी कामना नहीं की—अपने पुत्रकी भलाई सोची थी। यह सत्य है कि पुत्रके मंगलसे ही माताका मंगल है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जो एतद्देशीय पिता-माता अपनी जातिके खौफसे पुत्रको पढ़नेके लिए विलायत नहीं जाने देते, उनके कार्यकी अपेक्षा कैकेयीका यह कार्य सौगुना अस्वार्थपर है।

इस बातको जाने दो। कैकेयीके दोप-गुणोंका विचार करनेके लिए इस समय हम प्रस्तुत नहीं हैं। दशरथने सत्यपालनके लिए रामको वन भेजकर भरतको राज्य दिया। इसमें उन्हें प्राणाधिक पुत्रका वियोग स्वीकार करना पड़ा और अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। इसीसे भारतवर्षके साहित्यका इतिहास उनके यशके कीर्त्तनसे परिपूर्ण है। किन्तु उत्कृष्ट धर्मनीतिके विचारसे यही सिद्ध होता है कि दशरथने पुत्रको अपने अधिकारसे च्युत और निर्वासित करके सत्यका पालन किया, तो इससे उन्हें घोर अधर्म ही हुआ।

हम पूछते हैं कि क्या सत्य (अर्थात् प्रतिज्ञा) मात्रका पालन करना चाहिए ? यदि सती कुलकामिनी किसी फेरमें पढ़कर किसी कुचरित्र पुरुषके निकट धर्मत्यागका वादा कर ले, तो क्या उस वादेको पूरा करना चाहिए ? यदि कोई किसी ठगके बहकानेसे बिना किसी दोषके

मित्रको मारनेकी प्रतिज्ञा कर ले, तो क्या वह प्रतिज्ञा पालनीय हो सकती है ?

जहाँ प्रतिज्ञाके तोड़नेकी अपेक्षा उसकी रक्षा करनेमें अधिक अनिष्ट है, वहाँ क्या उचित है, प्रतिज्ञाको तोड़ना या प्रतिज्ञाकी रक्षा ? बहुत लोग कहेंगे कि वहाँ भी सत्यका पालन करना चाहिए। क्यों कि सत्य नित्य-धर्म है, अवस्था-भेदसे वह पुण्यसे पाप नहीं हो सकता। अगर आप पुण्य और पापका निर्णय इस विचारसे करते हैं कि जब जो काम करनेवालेकी समझमें इष्टकारक हो तब वह कर्त्तव्य है, और जब अनिष्टकारक हो तब अकर्त्तव्य है, तो फिर पुण्य-पापमें कोई भेद नहीं रहता। तब लोग पुण्य कहकर घोर महापातकमे प्रवृत्त हो सकते हैं। हम यहाँपर इस तत्त्वकी मीमांसा नहीं करेंगे। क्यों कि हितवाददर्शनके अनुयायी लोगोंने एक प्रकारसे इसकी मीमांसा कर रक्खी है।

जब इस प्रकार मीमांसामें गड़बड़ हो, तब धर्मनीतिका जो मूलसूत्र पहले बताया जा चुका है उसके द्वारा परीक्षा की जानी चाहिए।

सत्य क्या सर्वत्र पालनीय है ? इसके उत्तरका निर्णय करनेके पहले प्रश्न यह है कि सत्य पालनीय क्यों है ? सत्य-पालनकी एक जड़ धर्म-नीतिमे है और एक जड़ आत्मसंस्कार-नीतिमें है। हम आत्मसंस्कार-नीतिको धर्म-नीतिका अंश मानना अस्वीकार कर चुके हैं, इससे धर्म-नीतिका मूल ही देखेंगे। विशेष बात यह है कि दोनोंका फल एक ही है। धर्म-नीतिका मूल सूत्र यह है कि जिससे दूसरेका अनिष्ट हो वह अकर्त्तव्य है। सत्य पालन न करनेसे दूसरेका अनिष्ट होता है, इस लिए सत्य पालनीय है। किन्तु जब सत्य पालनसे दूसरेका भारी अनिष्ट होता हो, और सत्यका पालन न करनेसे वैसा न होता हो, तब सत्य पालनीय नहीं। दशरथके सत्य-पालनसे रामका भारी अनिष्ट हुआ, और सत्यका

पालन न करनेसे कैकेयीका वैसा कुछ अनिष्ट न होता। रहा दृष्टान्त-स्वरूपसे जनसमाजका अनिष्ट, सो रामको उनके अधिकारसे भ्रष्ट करनेमें ही उसकी आशंका अधिक है। यह तो दस्युताका रूपान्तर कहा जा सकता है। अतएव ऐसी जगहपर दशरथने सत्यका पालन करके ही महापाप किया।

यहाँपर दशरथ स्वार्थपरतासे खाली नहीं हैं। सत्यभंग होनेसे जगतमें उनके कलंककी घोषणा होगी, इसी भयसे उन्होंने रामको उनके अधिकारसे च्युत और बहिष्कृत कर दिया। अतएव यशोरक्षारूप स्वार्थके वशीभूत होकर उन्होंने रामका अनिष्ट किया। सच है कि उन्होंने अपने प्राणोंकी हानि भी स्वीकार की, किन्तु उनके निकट प्राणोंकी अपेक्षा यश ही प्रिय था। अतएव उन्होंने अपने इष्टकी ही रक्षा की। इस लिए वे स्वार्थपर हैं। स्वार्थपरताके दोषसे युक्त पराया अनिष्ट निस्सदेह घोरतर महापाप है।

अस्वार्थपर प्रेम और धर्मकी एक ही गति और एक ही परिणति है। दोनोंका साध्य दूसरेका मंगल है। वास्तवमें प्रेम और धर्म एक ही पदार्थ हैं। सब संसार जब प्रेमका विषय हो जाता है तब वह प्रेम ही धर्म नामको प्राप्त होता है। धर्म जबतक सार्वजनिक प्रेमके रूपको धारण नहीं करता, तबतक वह संपूर्णताको नहीं प्राप्त होता किन्तु मनुष्योंने कार्यतः स्नेहको धर्मसे अलग कर रक्खा है, अतएव प्यारका अत्याचार रोकनेके लिए धर्मके द्वारा स्नेहपर शासन होनेकी आवश्यकता है।

अनुकरण

जगदीश्वरकी कृपासे उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दीमें नव्य बाबू नामधारी एक अद्भुत जीव जगतमें दिखाई पड़े हैं। पशुतत्त्वके ज्ञाताओंने परीक्षाद्वारा निश्चय किया है कि बाहरसे तो इनमें मनुष्यके लक्षण मिलते हैं,— इनके हाथों और पैरोंमें पाँच पाँच अँगुलियाँ हैं, पूँछ नहीं है, और इनकी हड्डियाँ तथा मस्तक 'बाइमेन' जातिके सदृश जान पड़ते हैं। परन्तु इनके अन्तःस्वभावके सम्बन्धमें अभी तक वैसा निश्चय नहीं हो सका है। किसी किसी विद्वानका मत है कि वे भीतरसे भी मनुष्य हैं। कोई कोई कहते हैं कि ये बाहरसे मनुष्य किन्तु भीतरसे पशु हैं। इसी तत्त्वकी मीमांसाके लिए श्रीयुक्त राजनारायण वसुने कुछ समय पहले एक व्याख्यान दिया था। उक्त व्याख्यान अब मुद्रित भी हो चुका है। उसमें उन्होंने पशु-पक्षका ही समर्थन किया है।

तो हम लोग किस मतके माननेवाले हैं? हम भी बाबुओंको पशुश्रेणीभुक्त माननेवाले हैं। हमने अँगरेजी समाचारपत्रोंसे इस पशुतत्त्वका अभ्यास किया है। किसी ताम्रश्मश्रु ऋषिका मत यह है कि जिस तरह विधाताने तीनों लोकोंकी सुन्दरियोंके सौन्दर्यका तिल तिल संग्रह करके तिलोत्तमाका सृजन किया था, उसी प्रकार पशुवृत्तियोंका तिल तिल संग्रह करके यह अपूर्व नव्य बाबू-चरित्र सृजन किया गया है। विधाताने शृगालोंसे शठता (धूर्तता), श्वानोंसे खुशामद और भिक्षानुराग, भेड़ोंसे भीरुता, वानरोंसे अनुकरणपटुता और गर्दभोंसे गर्जन— इन सब गुणोंका संग्रह करके, दिङ्मण्डलको उज्ज्वल करनेवाले, भारतवर्षके एक मात्र भरोसे, और भट्ट मोक्षमूलरके आदरके स्थान, नव्य बाबु-

ओंको समाजाकाशमें उदित किया है। जैसे सुन्दरियोंमें तिलोत्तमा, ग्रंथोंमें रिचर्डसन्स सिलेकशन्स, पोशाकोंमें फकीरकी गुदड़ी, और भोजनोंमें खिचड़ी है, वैसे ही मनुष्योंमे नव्य बाबू लोग हैं। जिस तरह क्षीरसागरके मन्थन करनेसे जगत्प्रकाशक चन्द्र निकला था, उसी तरह पशु-चरित्र-सागरके मन्थनसे ये अनिन्दनीय बाबू-चन्द्रमा निकलकर भारतवर्षको उजेला दे रहे हैं। राजनारायण बाबू जैसे अमृतलुब्ध लोगोंको हम अच्छा नहीं समझते, जो राहु बनकर इन कलङ्कशून्य चन्द्रबिम्बोंको ग्रसना चाहते हैं। विशेष कर हम राजनारायण बसु महाशयसे पूछते हैं कि जब आपने अपनी एक पुस्तकमें गोहत्याका निषेध किया है, तब आप क्यों अपनी वक्तृतामें बाबू लोगोंपर खड्गहस्त हुए हैं? बाबू लोग गऊ-बैलोंसे किस बातमें कम या निकृष्ट हैं? जैसे गऊ-बैल उपकार करते हैं वैसे ही वे भी करते हैं। ये लोग अखबाररूपी सुस्वादु दूध मटके भर भर कर देते हैं, चाकरीका हल कंधेपर लादकर जीवनके खेतको जोत कर अँगरेज किसानोंको अन्न-धन पैदा करनेमें सहायता पहुँचाते हैं, विद्याके बोरे कालेजोंसे पीठपर लाद लाद कर छापेखानोंमें आकर डाल देते हैं, समाजसंस्कारकी गाड़ीपर विलायती माल लाद कर रसके बाजारमें पहुँचाते हैं और देशहितके कोल्हूमें स्वार्थ-सरसों पेरकर यशरूपी तेल निकालते हैं। भला ऐसे जीवोंपर कोई खड्गहस्त होता है! हमारे देशके इन बाबुओंकी लोग जितनी निन्दा करते है वास्तवमें उतने निन्दनीय वे नहीं हैं। बहुतसे स्वदेशवत्सल लोग जिस अभिप्रायसे बाबुओंकी निन्दा करते हैं, राजनारायणजीने भी उसी अभिप्रायसे—बाबुओंके हितके लिए—उनकी निन्दा की है। अपने 'तब और अब' शीर्षक लेखमें निरपेक्षभावसे 'भूत' और 'वर्तमान' की आलोचना करना उनका उद्देश्य नहीं। 'वर्तमान' के दोष दिख-

लाना ही उनका उद्देश्य है। उन्होंने 'वर्तमान' के गुणोंपर दृष्टि नहीं डाली और दृष्टि डालना भी व्यर्थ था; क्यों कि वर्तमान बाबुओंको अपने गुणोंके विषयमें तो कुछ भी सन्देह नहीं है—वे केवल अपने दोषोंको ही नहीं देख पाते।

यह कहना अनुचित नहीं कि इस नई पौधमें कई दोष हैं। उन सबमें 'अनुकरणका अनुराग' एक ऐसा दोष है जिसपर सबका कटाक्ष है। इसके लिए क्या अँगरेज और क्या हिन्दुस्तानी, सभी नित्य इस पौधका तिरस्कार करते हैं। इस विषयमें राजनारायणजीने जो कुछ कहा है उसे उद्धृत करनेकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। वे बातें आजकल हर एक पुराने ढंगके आदमीके मुखसे सुन पड़ती हैं।

हम उन बातोंको स्वीकार करते हैं, और यह भी मानते हैं कि राजनारायणजीने जो कहा है उसमें बहुत कुछ सत्य है; किन्तु अनुकरणके बारेमें हम उनसे सहमत नहीं। अनुकरणके सम्बन्धमे लोगोंकी कुछ भ्रान्त धारणायें हो गई हैं।

क्या अनुकरण करना ही दोष है? यह कभी हो नहीं सकता। अनुकरणके सिवा प्रथम शिक्षा प्राप्त करनेका कोई उपाय ही नहीं है। जैसे छोटा बच्चा सयाने लोगोंकी बातोंका अनुकरण करके बोलना सीखता है, जैसे वह सयानोंके कामोंको देखकर अनुकरण करके उन्हें करना सीखता है, वैसे ही असभ्य और अशिक्षित जातियाँ सभ्य और शिक्षित जातियोंका अनुकरण करके वैसी ही बनती हैं। अतएव नई पौधके हिन्दुस्तानी अगर अँगरेजोंका अनुकरण करते हैं तो वह ठीक है—युक्तिसंगत है। यह सच है कि आदिकी सभ्य जातियाँ, बिना किसीका अनुकरण किये शिक्षित और सभ्य बनीं—प्राचीन भारतवर्ष और मिसरकी सभ्यता किसीके अनुकरणका फल नहीं है।

किन्तु आधुनिक यूरोपकी सभ्यता और शिक्षा, जो इस समय सब जाति-योंकी सभ्यता और शिक्षासे श्रेष्ठ समझी जाती है, सो कैसे सुसम्पन्न हुई ? इसका उत्तर यही है कि अनुकरणसे। रोम और यूनानकी सभ्यताके अनुकरणसे ही यूरोपकी सभ्यता इस दर्जेको पहुँची है। रोमकी सभ्यता भी यूनानकी सभ्यताके अनुकरणका फल है। पुरावृत्त जाननेवालोंको मालूम है कि आजकल हिन्दुस्तानी बाबू लोग अँगरेजोंका जितना और जैसा अनुकरण करते हैं, यूरोपियन लोगोंने पहले पहल यूनानियोंका—विशेषकर रोमका—उससे कम अनुकरण नहीं किया। उन्होंने पहले अनुकरण किया, इसीसे आज वे उन्नतिके इतने ऊँचे सोपानपर विजय-वैजयन्ती लिये खड़े हुए हैं। लड़कपनमें दूसरेका हाथ पकड़कर जलमें उतरना जिसने नहीं सीखा, वह कभी तैरना नहीं सीख सकता। मास्टरके अक्षरोंको देखकर जिसने पहले लिखना नहीं सीखा, वह लिख नहीं सकता। हिन्दुस्तानी लोग अँगरेजोंका अनुकरण कर रहे हैं, यही उनके लिए आशा है।

किन्तु लोगोंको यह विश्वास है कि अनुकरणके द्वारा अव्वल दर्जेकी उन्नति नहीं हो सकती। क्यों भाई, कैसे ?

पहले साहित्यको लीजिए। पृथ्वीके कुछ प्रथम श्रेणीके महाकाव्य केवल अनुकरणमात्र हैं। पोपने ड्राइडेन और बोयालोका अनुकरण किया है और जान्सनने पोपका। हम इस तरहके छोटे छोटे लेखकोंके दृष्टान्त दिखाकर ही अपने कथनको प्रमाणित नहीं करना चाहते। बड़ोंको भी देखिए। वर्जिलका महाकाव्य होमरके प्रसिद्ध महाकाव्यका अनुकरण है। रोमका सारा साहित्य यूनानके साहित्यका अनुकरण है। कहनेका मतलब यह है कि जो रोमका साहित्य वर्तमान यूरोपकी सभ्यताका आधार है, वह अनुकरणमात्र है। इन विदेशके उदाहरणोंको जाने

दीजिए। आप अपने ही यहाँके लीजिए। हमारे देशमें दो महाकाव्य हैं—उनको हम महाकाव्य न कहकर गौरवके लिए इतिहास कहते हैं—वे पृथ्वीके सब काव्योंमें श्रेष्ठ हैं। गुणमें दोनों प्रायः समान ही हैं, थोड़ा ही अन्तर है। पर साहित्यकी दृष्टिसे देखिए, तो एक प्रायः दूसरेका अनुकरण है। वुल्हर साहबको छोड़कर शायद और कोई आपत्ति नहीं करेगा कि महाभारतकी रचना रामायणके बाद हुई है। अन्यान्य अनुकृत और अनुकारी नायकोंमें जितना अन्तर है राम और युधिष्ठिरमें उससे अधिक अन्तर नहीं है। रामायणके अमित बलशाली वीर जितेन्द्रिय भ्रातृवत्सल लक्ष्मण महाभारतमें अर्जुन बन गये हैं और भरत शत्रुघ्नका प्रतिबिंब नकुल-सहदेवमें है। भीमका ढंग निराला है, तथापि बहुत-सी बातोंमें उनपर कुंभकर्णकी छाया पड़ गई है। रामायणमें बिभीषण हैं, महाभारतमें विदुर हैं। अभिमन्यु और इन्द्रजित् एक ही ढंगके हैं। इधर राम अपने भाई और स्त्रीके साथ सुदीर्घ समय तक वनमें रहनेको बाध्य हुए, और उधर युधिष्ठिर भी भाई और स्त्रीके साथ वनको गये। दोनों ही राज्य पाते पाते उससे वंचित हुए। एककी स्त्री हरी गई और दूसरेकी स्त्रीका भरी सभामें अपमान हुआ। दोनों ही महाकाव्योंका सारांश जो युद्ध है, उसमें एकमें स्पष्टरूपसे और दूसरेमें अस्पष्टरूपसे—वही अग्नि जलती है। दोनों ही काव्योंका प्लाट यह है कि युवराज राज्यभ्रष्ट होकर भाई और स्त्रीके साथ बनवासी बने, फिर लड़कर विजयलक्ष्मी पाकर अपना राज्य करने लगे। छोटी छोटी घटनाओंमें भी यही बात पाई जाती है। लव-कुशका काम मणिपुरमें बभ्रुवाहनने कर दिखाया। मिथिलामें धनुर्भंग हुआ, पञ्चालमें भी उसी धनुष्यकी क्रियासे मत्स्यवेध हुआ। दशरथ और पाण्डुका पाप और शाप बहुत कुछ मिलता जुलता है। लंकादाह और लाक्षाभवनकी लीलामें भी घटना-सादृश्य है।

हमारे इस कथनका यह आशय न समझ लिया जाय कि रामायण और भारतके पात्र पृथ्वीपर पैदा ही नहीं हुए, या उन्होंने इन काव्योंमें वर्णित कार्य्योंको नहीं किया। वे सब लोग हुए और उन्होंने उन कार्य्योंको भी किया। किन्तु उनके उन कार्य्योंका वर्णन परवर्ती कवियोंके द्वारा किया गया—और उनमें परवर्ती कविने पूर्ववर्ती कविका बहुत कुछ अनुकरण किया और पूर्ववर्ती कविने भी लोकपरम्पराके मुखसे सुने गये उपाख्यानके वर्णन करनेमें अपनी कवित्व-शक्तिका उपयोग किया। इसी कारण हमने इन दोनों ग्रंथोंको, इतिहास होनेपर भी महाकाव्य कहा है।

आपका जी चाहे तो आप महाभारतको रामायणका अनुकरण न कहें; परन्तु याद रखिए, अनुकृत और अनुकारीमें इससे अधिक समानता आपको बहुत कम मिलेगी। मगर देखिए, हमारी समझमें महाभारत रामायणका अनुकरण होकर भी पृथ्वीमें अद्वितीय है। अगर इसकी तुलना हो सकती है तो कुछ अंशोंमें रामायणसे। परन्तु, संपूर्ण नहीं। क्योंकि महाभारतमें बहुतसे नवीन पात्र और घटनाये ऐसी हैं जो रामायणमें नहीं हैं। महाभारतके श्रीकृष्ण, बलराम, भीष्म, कर्ण, सुभद्रा आदि रामायणमें नहीं हैं। पात्रोंके स्वभावोंमें भी, स्थूलरूपसे समता होनेपर भी, सूक्ष्मरूपसे अन्तर है। एक सीता और द्रौपदीको ही लीजिए। द्रौपदीकी प्रचण्डता और तेजस्विता सीताजीमें नहीं है; केवल उसकी झलक रावणको अशोक-वाटिकामें फटकारते समय सीताजीमें पाई जाती है।

साहित्यको देख चुके, अब समाजको देखिए। जब रोमवालोंको यूनानकी सभ्यताका पता लगा, तब वे मन-वाणी-कायासे उसका अनुकरण करने लगे। उसका फल यह हुआ कि सिसरो ऐसे वक्ता, तासितस ऐसे इतिहासलेखक, वर्जिल ऐसे महाकवि, प्लाटस और टेरेन्स

ऐसे नाटककार, होरेस और ओविदा ऐसे गीतकाव्य बनानेवाले, पेपिनियन ऐसे व्यवस्थाकार, सेनेका ऐसे धर्मनीतिप्रणेता, आन्तनैन ऐसे राजधर्म पालनेवाले और कुकालस ऐसे भोगासक्त पुरुष रोममें दिखाई पड़े। जनसाधारणका ऐश्वर्य दिन दिन बढ़ा और सम्राटोंने अपनी सौन्दर्य-प्रियताका परिचय देनेवाली बड़ी बड़ी इमारतें बनवाईं। यूरोपका हाल ऊपर लिखा ही जा चुका है। इटली और फ्रान्सका साहित्य भी ग्रीस और रोमके साहित्यका अनुकरण है। यूरोपका व्यवस्थाशास्त्र रोमके व्यवस्थाशास्त्रका अनुकरण है। यूरोपकी शासनप्रणाली भी रोमके अनुकरणपर संघटित हुई है। कहीं वह 'इम्पिरेटर' है, कहीं वही 'फोरम' है, कहीं वही 'प्लेब' श्रेणी है, कहीं वही 'म्यूनिसिपियम' है। आधुनिक यूरोपके स्थापत्य (गृह-निर्माणकला) का और चित्रविद्याका मूल भी यूनान और रोमसे आया है। ये सब चीजें पहले-पहल अनुकरण मात्र थीं। अब अनुकरण छोड़कर और भी उन्नत होकर इन सब बातोंमें यूरोपियन लोग अपने गुरुसे भी बढ़े चढ़े हैं। मगर ऐसा होनेके लिए प्रतिभाकी बड़ी आवश्यकता है। प्रतिभाशाली लोग पहले अनुकरण करते हैं और फिर उसका अनुशीलन, अभ्यास और आलोचना करके स्वतन्त्रतापूर्वक पूर्वगामियोंसे आगे बढ़ जाते हैं। जो बच्चा पहले लिखना सीखता है, उसे पहले गुरुके हस्ताक्षरोंका अनुकरण करना पड़ता है। अन्तको उसके अक्षर अलग हो जाते हैं, और प्रतिभा होने पर तथा अभ्यास करने पर वह गुरुसे भी अच्छा लिख सकता है।

परन्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिभासे शून्य मनुष्य अगर अनुकरण करता है, तो उसका फल अच्छा नहीं होता। जिसमें जिस बातकी स्वाभाविक शक्ति नहीं, वह उस बातका सदा अनुकरण ही किया करता है, उसमें कुछ अपनी विचित्रता या स्वतन्त्रता दिखानेकी

शक्ति कभी नहीं देख पड़ती। यूरोपके नाटक इसके उत्तम उदाहरण हैं। यूरोपकी जातियोंमें जो नाटककार हुए हैं, सबने यूनानी नाटकोंका अनुकरण किया है। किन्तु प्रतिभाशाली होनेके कारण स्पेन और इँग्लैंडके नाटक शीघ्र ही स्वतंत्र रूपसे लिखे जाने लगे और इंग्लैंडने इस विषयमें ग्रीसके बराबर आसन जमा लिया। इधर इस विषयमें प्रतिभा अर्थात् स्वाभाविक शक्तिसे शून्य रोम, इटली, फ्रान्स और जर्मनीके लेखक केवल अनुकरण करनेवाले ही बने रहे। बहुत लोग कहते हैं कि रोम आदि देशोंके लोग जो नाटक-रचनामें स्पेन और इंग्लैंडके समकक्ष न हो सके, इसका कारण और कुछ नहीं उनके अनुकरणका अनुराग ही है। लेकिन यह भ्रम है। इसका कारण अनुकरणका अनुराग नहीं, उनमें नाटक-रचनाकी स्वभाविक शक्तिका न होना ही है। अनुकरणकी इच्छा भी एक कार्य है, कारण नहीं।

'अनुकरण' को आजकल लोग गालीसे बढ़कर समझते हैं। इसका कारण यही है कि प्रतिभाशून्य लोगोंकी अनुकरणमें प्रवृत्ति और उसका बुरा फल देख कर लोगोंको उसपर अश्रद्धा या अरुचि हो गई है। असमर्थ मनुष्यके लिए अनुकरणसे बढ़कर हँसीकी बात और नहीं है। एक तो वह खुद बुरा, उसपर उसका अन्ध अनुकरण करना किसको अच्छा लगेगा?

यदि प्रतिभाशाली व्यक्ति अनुकरण करे तो वह कभी घृणाके योग्य नहीं। हम लोगोंकी इस समय जो दशा हो रही है, उसे देखते हमारी अनुकरणकी प्रवृत्ति बुरी या अनुचित नहीं कही जा सकती। हमारी समझमें तो ऐसा अनुकरण मनुष्यके स्वभावसे ही सिद्ध है। ऐसा अनुकरण करनेमें अगर कोई हिन्दुस्तानियोंको दोष दे, तो हमें तो उसका कोई यथेष्ट कारण नहीं देख पड़ता। यह तो मनुष्यका स्वभावसिद्ध गुण

(या दोष) है। जब उत्कृष्ट और निकृष्ट मिलते हैं तब निकृष्टको उत्कृष्टके समान होनेकी अभिलाषा होना एक स्वाभाविक बात है। समान होनेका उपाय क्या है? उपाय यही है कि उत्कृष्ट लोग जैसा करते हैं, निकृष्ट लोग भी वैसा ही करें। इसीको अनुकरण कहते हैं। आजकलके हिन्दुस्तानी लोग देखते हैं कि अँगरेज लोग सभ्यतामें, शिक्षामें, बलमें, ऐश्वर्यमें, सुखमें, विद्यामें सब बातोंमें उनसे श्रेष्ठ हैं। तब हिन्दुस्तानी लोग क्यों न अँगरेजोंके समान होना चाहेंगे? हिन्दुस्तानी लोग समझते हैं कि अँगरेज लोग जो जो करते हैं, उसका अनुकरण करनेसे हम भी उन्हींके ऐसे सभ्य, शिक्षित, सम्पन्न और सुखी हो जायँगे। चाहे कोई भी जाति हो, हिन्दुस्तानियोंकी सी अवस्थामें आकर वह भी यही करती। यह अनुकरण-प्रवृत्ति केवल हिन्दुस्तानियोंके स्वभावका दोष नहीं है। कमसे कम उच्च जातियोंके हिन्दू आर्योंके वंशमें उत्पन्न हैं। उनके शरीरमें इस समय भी आर्योंका रक्त लहरें मार रहा है। वे कभी वानरोंकी तरह केवल अनुकरण-प्रिय नहीं हो सकते। उनके अनुकरणका कुछ उद्देश्य है। उनका अनुकरण स्वाभाविक और अन्तमें मङ्गलदायक हो सकता है। जो लोग हमें अँगरेजोंकी पोशाक, रहन-सहन और खाने-पीनेका अनुकरण करते देखकर जल उठते है, वे अँगरेजोंको फ्रान्सके खान-पान और पहनावेका अनुकरण करते देखकर क्या कहेंगे? अनुकरण करनेमें क्या अँगरेज लोग हिन्दुस्तानियोंसे कम हैं? भला, हम जो अनुकरण करते हैं वह तो अपनी जातिके प्रभुओंका करते हैं; मगर अँगरेज किसका अनुकरण करते हैं?

हम यह अवश्य स्वीकार करते है कि आधुनिक हिन्दुस्तानी जितना अनुकरण कर रहे हैं, उतनेकी आवश्यकता नहीं। हिदुस्तानियोंमें प्रतिभाहीन अनुकरण करनेवाले ही अधिक है और वे प्रायः गुणोंका अनुकरण न कर दोषोंके ही अनुकरणमें तत्पर देख पड़ते हैं। यही बड़े

दुःखकी बात है। हिंदुस्तानी लोग गुणोंका अनुकरण करनेमें उतने निपुण नहीं हैं, मगर दोषोंका अनुकरण करनेमें वे पृथ्वीमण्डलमें अपना सानी नहीं रखते। इसी लिए लोग हिन्दुस्तानियोंकी अनुकरण-प्रवृत्तिको गालियाँ देते हैं, और इसी कारण राजनारायणजीने इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, हम उसमेंसे बहुत सी बातोंको स्वीकार करते हैं।

अनुकरण करनेवाला प्रतिभाशाली होनेपर भी, अनुकरणमें दो भारी दोष दिखाई देते हैं। एक तो उससे विचित्रताके विकासमें विघ्न होता है। इस संसारमें विचित्रताका सुख भी एक प्रधान सुख है। पृथ्वी भरके सब पदार्थ अगर एक ही रंगके होते, तो जगतका दृश्य क्या इतना सुख-दायक कभी हो सकता था? यदि सब शब्द एक ही तरहके होते—मान लो, सब शब्द कोयलका स्वर ही होते—तो बतलाओ मधुर कुहू-स्वर कानोंको कभी अच्छा लगता? हममें यदि वैचित्र्य-सुखका अनुराग न होता तो चाहे वह अच्छा भी लगता, लेकिन इस समय जिस प्रकृतिको लेकर मनुष्य-जाति पैदा हुई है उसमें विचित्रताके बिना सुख नहीं—स्वाद नहीं। अनुकरणकी प्रवृत्ति उस वैचित्र्यके मार्गमें कण्टक है। हम मानते हैं कि शेक्सपियरका मैकबेथ नाटक एक उत्तम नाटक है; किन्तु यदि पृथ्वीके सब नाटक मैकबेथके अनुकरणपर ही लिखे गये होते, तो फिर नाटक देखनेमें क्या सुख या स्वाद रह जाता? सभी महाकाव्य अगर रघुवंशके आदर्शपर लिखे जाते तो फिर कौन महाकाव्य पढ़ता?

दूसरा दोष अनुकरणमें यह है कि उससे शीघ्र किसी काममें उन्नति नहीं होती। संसारका नियम है कि चाहे जिस कामको आप ले लीजिए उसमें वारम्वार यत्न करते रहनेसे ही उन्नतिकी संभवना होती है।

किन्तु यदि पर-वर्ती कार्य पूर्व-वर्ती कार्यका अनुकरण मात्र हुआ, तो चेष्टा किसी नई राहपर नहीं जाती। यही कारण है कि उस कार्यमें उन्नति नहीं होने पाती। तब फल यह होता है कि बहुत दिनों तक एक ही ढंग चला जाता है। इस बातको क्या शिल्प, साहित्य, विज्ञान;— और क्या सामाजिक कार्य या मानसिक अभ्यास;—सबमें आप आजमाकर देख सकते हैं।

विचार करनेसे जान पड़ेगा कि मनुष्यकी दैहिक और मानसिक वृत्तियोंकी एक साथ ही यथोचित स्फूर्ति और उन्नति ही मनुष्य-देह धारण करनेका प्रधान उद्देश्य है। मगर जिससे उनमेंसे कुछ वृत्तियाँ अधिक पुष्ट हों, और कुछके प्रति अवज्ञा उत्पन्न हो, वह कार्य मनुष्यके लिए अवश्य ही अनिष्टकारी है। मनुष्य अनेक हैं और एक मनुष्यके सुख भी अनेक हैं। उन सब सुखोंकी सिद्धिके लिए बहुत तरहके भिन्न भिन्न कार्योंके करनेकी आवश्यकता है। वे भिन्न भिन्न प्रकारके कार्य भिन्न भिन्न प्रकृतिके लोगोंके बिना सुसम्पन्न नहीं हो सकते। एक श्रेणीके चरित्रवाला आदमी अनेक श्रेणीके अनेक कार्य नहीं कर सकता। अतएव संसारमें चरित्र-वैचित्र्य, कार्य-वैचित्र्य, और प्रवृत्ति-वैचित्र्यकी बड़ी जरूरत है। इसके बिना समाजकी सर्वाङ्ग उन्नति नहीं हो सकती। इस वैचित्र्यकी उन्नतिमें ही समाजकी भलाई है। अनुकरण-प्रवृत्तिका फल यही होता है कि अनुकरण करनेवालेके चरित्र, प्रवृत्ति और कार्य अनुकृतके ऐसे हो जाते हैं—अनुकरण करनेवाला दूसरे मार्गपर नहीं जा सकता (लेकिन यह नियम विशेष कर प्रतिभाहीन लोगोंके लिए ही लागू है); और जब समाजके सभी लोग या अधिकांश लोग, अथवा काम करनेवाले लोग, एक ही आदर्शका अनुकरण करने लगते हैं तब यह वैचित्र्यकी हानि हो जाती है। मनुष्य-चरित्रका सम्पूर्ण विकास

नहीं होता; सब प्रकारकी मानसिक वृत्तियोंमें सामञ्जस्य नहीं रहता; सब तरहके काम सुसम्पन्न नहीं होते, मनुष्यको सब प्रकारके सुख नसीब नहीं होते। मनुष्यत्व असम्पूर्ण रह जाता है, समाज असम्पूर्ण रह जाता है, मनुष्य-जीवन असम्पूर्ण रह जाता है।

हमारे इस सब कथनका सारांश यही है कि—

(१) सामाजिक सभ्यताकी उत्पत्ति दो तरहसे है—कोई समाज आपसे सभ्य होता है; और कोई समाज दूसरे समाजसे शिक्षा प्राप्त करता है। पहले प्रकारसे बहुत दिन लगते हैं, और दूसरे प्रकारसे, बहुत शीघ्र कार्य सिद्ध हो जाता है।

(२) जब कोई अपेक्षाकृत असभ्य जाति अत्यन्त सभ्य जातिसे हिलने मिलनेका अवसर पाती है तब वह सभ्यताकी राहपर बड़ी तेजीसे दौड़नेकी कोशिश करती है, और प्रतिभा होनेसे अपनी चेष्टामें सफलता भी प्राप्त करती है। ऐसी जगहपर सामाजिक गति ऐसी होती है कि अपेक्षाकृत असभ्य अशिक्षित समाज अपनेसे अधिक सभ्य शिक्षित समाजका अनुकरण सब बातोंमें करने लगता है। यही स्वाभाविक नियम है।

(३) अतएव हिन्दुस्तानियोंके आधुनिक समाजमें दिखाई देनेवाली वह अनुकरण-प्रवृत्ति न अस्वाभाविक है और न हिन्दुस्तानियोंके स्वाभाविक दोषसे उत्पन्न हुई है।

(४) अनुकरण-मात्रसे अनिष्ट नहीं होता। अगर अनुकरणमें कुछ दोष हैं तो गुण भी हैं। प्रतिभाहीन—विचित्रताहीन—का अन्ध अनुकरण दो कौड़ीका होता है। प्रतिभाशाली मनुष्य (या जाति) पहले अनुकरण करता है और पीछे अभ्यास हो जानेपर स्वतन्त्र रूपसे उसीमें उन्नति करता है। हमारे हिन्दुस्तानियोंकी जैसी अवस्था है, उसे

देख कर यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती कि इनकी अनुकरण-प्रवृत्ति अच्छी नहीं। इस अनुकरणप्रवृत्तिमें आशाकी झलक भी पाई जाती है।

(५) परन्तु अन्ध-अनुकरणमें एक बड़ा भारी दोष भी है। वह यह कि अनुकरणयोग्य प्रथम अवस्था निकल जाने पर भी अगर अनुकरणकी प्रवृत्ति प्रबल बनी रही; अथवा अनुकरणके योग्य समयमें ही बराबर अनुकरणी प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई, अर्थात् अनुकरणका अभ्यास बढ़ता गया, तो बहुत ही शीघ्र सर्वनाश उपस्थित होता है।

(६) अनुकरण करनेवाले हिन्दुस्तानी अगर इन बातोंपर ध्यान देकर सँभल कर काम करें, तो वे शीघ्र ही अपने गुरुओंके उत्तम शिष्य बनकर सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।

लोक-शिक्षा

गणना करके जाना गया है कि भारतमें रहनेवाले हिंदुओंकी संख्या ३३ करोड़के लगभग है। शायद पृथ्वीपर ऐसा कोई काम ही सम्पन्न नहीं होता, जिसे इतने आदमी मिलकर न कर सकते हों। किन्तु हमारे द्वारा कोई भी काम सिद्ध नहीं होता। इसका कारण है। लोहेका औजार बननेपर उसके द्वारा पत्थर तक तोड़ा जा सकता हैं; किन्तु लोहेमात्रमें तो यह गुण नहीं है। लोहेको अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे प्रस्तुत, गठित और तेज करना पड़ता है, तब लोहा इस्पात होकर काटता है। ऐसे ही मनुष्यको प्रस्तुत, उत्तेजित और शिक्षित करना पड़ता है, तब उसके द्वारा कार्य होता है। भारतके इन करोड़ों आदमियोंके

द्वारा कोई कार्य न होनेका कारण यह है कि भारतमें लोक-शिक्षाका अभाव है। जो लोग भारतकी तरह तरहकी उन्नति करनेमें लगे हैं, वे लोक–शिक्षाकी बातपर ध्यान नहीं देते, अपनी अपनी विद्या-बुद्धि प्रकट करनेमें ही लगे रहते हैं। मामला कम आश्चर्यका नहीं है।

यह कभी संभव नहीं कि विद्यालयमें पुस्तकें पढ़ाकर, व्याकरण, साहित्य और ज्यामिति सिखाकर इन करोड़ों लोगोंको शिक्षा दी जा सके। यह शिक्षा ही नहीं है और उक्त उपायोंसे यथार्थ शिक्षाकी प्राप्ति असंभव है। सब चित्तवृत्तियोंकी प्रकृत अवस्था, अपने अपने कार्यमें निपुणता और कर्तव्य-कार्यमें उत्साह जिससे हो वही शिक्षा है। मेरा यही विश्वास है कि व्याकरण और ज्यामितिसे वह शिक्षा नहीं होती और बड़े बड़े सुशिक्षित नामधारियोंसे लेकर साधारण पढ़े लिखे मनुष्यों तक किसी भी अँगरेजी-नवीसके मुखसे इस बारेमें कोई बात आज तक नहीं सुन पड़ी।

यूरोपमें इस प्रकारकी लोक-शिक्षा अनेक उपायोंसे हुआ करती है। प्रशिया आदि अनेक देशोंमें, सर्वसाधारणको इस प्रकारकी शिक्षा दी जाती है। इन देशोंमें अखबार लोक-शिक्षाका एक प्रधान उपाय हैं। अखबारोंसे लोक-शिशा कैसे होती है, यह बात शायद इस देशके लोग सहजमें समझ नहीं सकते।

इस देशकी हरएक भाषामें अधिकसे अधिक बीस बीस पचीस पचीस अखबार निकलते हैं। इनमेंसे किसीके ग्राहक दो सौ हैं, किसीके पाँच सौ। अखबारोंके तमाम पाठकोंकी संख्या दस पाँच हजार या इससे कुछ अधिक होगी। (अब इस संख्यामें काफी वृद्धि हो गई है।) किन्तु यूरोपके हर एक देशमें सैकड़ों, यहाँ तक कि कहीं कहीं हजारों अखबार निकलते हैं। एक एक अखबारके ग्राहक हजारों और लाखों हैं।

उनके पढ़नेवालोंकी संख्या लाखों करोड़ोंके लगभग है। इसके ऊपर हरएक नगरमें कई कई सभायें हैं। गाँव गाँवमें वक्तृतायें हुआ करती हैं। जिसको जो कहना होता है, वह अपने परोसियोंको जमा करके व्याख्यानमें समझा देता है। वह बात सैकड़ों अखबारोंमें छप जाती है। सैकड़ों भिन्न भिन्न ग्रामों और नगरोंमें प्रचारित और विचारित होती है। लाखों लोग उस बातको पढ़कर उससे शिक्षा प्राप्त करते हैं और एक एक भोजनके निमन्त्रणमें ही स्वादिष्ट भोजन करते करते यूरोपके लोग जिस शिक्षाको प्राप्त करते हैं, उस शिक्षाका अनुभव ही हमें नहीं हो सकता। हमारे देशमें जो थोड़ेसे अखबार हैं, उनकी दुर्दशाकी बात तो पहले ही कही जा चुकी है। रही वक्तृतायें, सो वे तो लोकशिक्षाकी राह होकर भी नहीं जातीं। इसके बहुतसे कारणोंमें एक प्रधान कारण यह है कि वक्तृतायें प्रायः देशी भाषाओंमें नहीं दी जातीं। उन्हें बहुत ही कम लोग सुनते हैं, बहुत ही कम लोग पढ़ते हैं और बहुत ही कम लोग समझते हैं। इसके सिवा अधिकांश वक्तृताओंके असार होनेके कारण और भी कम लोग उनसे शिक्षा पाते हैं।

इस समय ऐसी दशा होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सदासे यहाँ लोक शिक्षाके उपायका अभाव चला आ रहा है। लोक-शिक्षाका उपाय न था, तो शाक्यसिंह (बुद्ध) ने किस तरह सारे भारत-वर्षको बौद्धधर्मकी शिक्षा दी? विचार कर देखो, बौद्ध धर्मके कूट-तर्कोंको समझनेमें हमारे आधुनिक दार्शनिकोंके सिरका पसीना पैरों आता है। कलकत्ता-रिव्यूमें इसके प्रमाण मौजूद हैं कि मैक्समूलर उन तर्कोंको समझ नहीं सके। वही कूटतत्त्वमय, निर्वाणवादी, अहिंसाप्रधान दुर्बोध्य धर्म शाक्यसिंह (बुद्ध) और उनके शिष्योंने सारे भारतवर्षको— गृहस्थ,. परिव्राजक, पण्डित,मूर्ख, काम-काजी, उदासीन, ब्राह्मण, शूद्र

सबको—सिखलाया था। लोक-शिक्षाका क्या उस समय उपाय नहीं था? शङ्कराचार्यने उसी दृढ़बद्धमूल दिग्विजयी साम्यप्रधान बौद्धधर्मको लुप्त करके फिर समग्र भारतवर्षको वेदान्तकी शिक्षा दी। उस समय क्या लोक-शिक्षाका उपाय नहीं था? अभी कुछ ही दिन हुए; बंगालके चैतन्यदेवने उड़ीसे-भरको वैष्णव धर्ममें दीक्षित कर लिया। पर अब देखते हैं कि राजा राममोहनरायसे लेकर कालेजके लड़के तक—सभी—ब्राह्मधर्मकी घोषणा करते फिरते हैं, किन्तु लोग उसे नहीं सीखते। अर्थात् पहले लोकशिक्षाके उपाय थे, पर अब नहीं हैं।

यहाँ लोकशिक्षाका एक बहुत सुन्दर उपाय था। वह उपाय था कथा बाँचनेकी प्रथा। आज कथा बाँचनेकी प्रथा एकदम नष्ट नहीं हुई, फिर भी वह निस्सार और विकृत हो गई है। उस जमानेमें कथा बाँचनेवाले व्यास मस्तकमे चन्दनका तिलक और गलेमें सुगन्धित पुष्पोंकी माला धारण किये व्यासगद्दीपर बैठकर सीताके सतीत्व, अर्जुनके वीरधर्म, लक्ष्मणके सत्यव्रत, भीष्मके इंद्रियजय, राक्षसीके प्रेम प्रवाह, दधीचिके आत्म-समर्पण, हरिश्चन्द्रकी कठोर परीक्षा आदि विषयोंकी सुन्दर व्याख्या मधुर कण्ठसे सबके सामने करते थे। किसान, रोजगारी, नीच जातिके लोगतक उसके द्वारा सहजमें सुशिक्षा पाते थे। साधारण श्रोता तकको उससे यह ज्ञान होता था कि धर्म नित्य है, धर्म देव है, अपना ही खयाल रखना अश्रद्धाकी बात है, जीवन पराये लिए ही मिला है, ईश्वर हैं, वे विश्वकी सृष्टि, उसका पालन और संहार करते हैं। वे यह जान जाते थे कि पाप पुण्य हैं, पापका दण्ड और पुण्यका पुरस्कार है, अहिंसा परम धर्म है,—लोकहित परम कार्य है। ऐसी शिक्षा देनेवाले कथक अब कहाँ गये? अब ऐसे वक्ता जो कुछ हैं भी, वे इस कारण उस कामको छोड़ बैठे हैं कि आजकलके नवशिक्षित सम्प्रदायके लोगोंकी

उनसे अरुचि है। कथा बाँचनेवालोंको वे हरामखोर तक कहनेमें संकोच नहीं करते। प्राचीन इतिहास पुराणोंकी सभी बातोंको गप्प मान कर उनपर अश्रद्धा प्रकट करते हैं। ब्रांडी पीना, वेश्याके मुँहसे 'आज रंगीले रसिया देखे मैंने' सुननेमें जिन्हें लाभ समझ पड़ता है, और लोक-शिक्षाप्रचारिणी कथाके प्रचारमें हानि, उन अल्पशिक्षित, स्वधर्मभ्रष्ट, कदाचार, दुराशय, असार, बात करनेके अयोग्य लोगोंके दोषसे अब कथाकी प्रथा उठ जानेमें अधिक विलम्ब नहीं है। अँगरेजी-शिक्षाके गुणसे भारतमें क्रमशः लोक-शिक्षाका उपाय लुप्त ही होता जा रहा है।

अँगरेजी शिक्षाको मैं इस लिए दोष दे रहा हूँ कि इसमे ऊपर लिखे दोषोंके अलावा एक दोष यह हो जाता है कि शिक्षित और अशिक्षितमें सहानुभूति नहीं रहती। अँगरेजीमें ही बातचीत करनेकी सनक रखनेवाले बाबू अशिक्षितोंके हृदयको नहीं समझते। शिक्षित लोग अशिक्षितोंके ऊपर दृष्टि ही नहीं डालते। कल्लू किसान किसानीके कामोंमें जुटकर जान दे, हमें उसका फल भोगनेसे मतलब। कल्लूके दिन किस तरह बीतते हैं, उसे क्या दुख और सुख है, उसपर हमारे यहाँके शिक्षित बाबू लोग रत्तीभर ध्यान नहीं देते। इन शिक्षितोंके लंबे चौड़े व्याख्यान पढ़कर विलायतके बड़े बड़े अंगरेज मुग्ध और चकित भी हो गये, तो उसका कोई फल नहीं। शिक्षितोंके मनकी बात उनका बक्तव्य विदेशी भाषामें होनेके कारण अगर कल्लू किसानकी मण्डली—जिसकी संख्या फी-सदी नब्बेसे भी अधिक है—कुछ भी न समझ सकी, तो वह निष्फल है। कोरे यशसे क्या होगा? अँगरेजोंके मुग्ध और चकित होनेसे क्या होगा? जब तक देशी भाषामें अपना वक्तव्य कल्लूकी मण्डलीको सुनाकर उसे हम 'लोकमत' का रूप न देंगे,

तब तक उसका पूरा असर नहीं पड़ सकता। करोड़ों अशिक्षितोंके मूक क्रन्दनसे आकाश फटा जाता है। पर वे क्या करें? उनको शिक्षा नहीं मिली है—उनके पास अपने भाव प्रकट करनेकी भाषा नहीं है। सुशिक्षित लोग उनसे मिलकर, देशी भाषामें अपना वक्तव्य प्रकटकर उन्हें शिक्षित नहीं बनाते।

सुशिक्षित लोग जो समझते हैं, उसे अशिक्षितोंको एकत्र करके उनकी भाषामें समझा देनेसे लोग सहजमें शिक्षित हो सकते हैं। लोक-शिक्षाका यह सहज सुन्दर उपाय है। यह बात भारतमें सर्वत्र प्रचारित होनी चाहिए। इसके लिए सुशिक्षितोंको अशिक्षितोंसे हेलमेल बढ़ाना होगा। सुशिक्षित और अशिक्षितोंमें सहानुभूतिका भाव होना चाहिए। यह हेलमेल बढ़नेका सबसे अच्छा उपाय देशी भाषामें पुस्तकें लिखना और लेक्चर आदि देना है।

रामधन पोद

भारतीय साहित्यमें एक ही रोना सुन पड़ता है कि भारतीयोंके बाहुमें बल नहीं है। इस अभिनव अभ्युत्थानके समय हमारे मुखसे यही सुन पड़ता है कि हाय, हमारे बाहुमें बल नहीं है। भारतीयोंके सब दुःखोंकी जड़ केवल बाहुमें बल न होना ही है।

अगर पता लगाया जाय कि भारतीयोंके बाहुमें बल क्यों नहीं है, तो उसका यही एक उत्तर मिलेगा कि उन्हें पेटभर खानेको नहीं मिलता—देशमें अन्न नहीं है। जैसे एक माताके बहुत बच्चे होनेपर कोई भरपेट दूध नहीं पाता, वैसे ही हमारी जन्मभूमि बहुत-सी संतानोंकी माता होनेके कारण उससे प्राप्त अन्नसे सबको पूरा आहार नहीं मिलता।

शायद भारतकी ऐसी प्रजावृद्धि पृथ्वीके किसी देशमें न होगी। यही अतिशय प्रजावृद्धि ही उसकी अवनतिका कारण है। प्रजाकी बहुलतासे अन्नाभाव, अन्नाभावसे अपुष्टि, अजीर्ण, ज्वर और मानसिक दुर्बलता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

बहुत लोग कहेंगे, देखो देशमें बड़े आदमियोंके अनेक लड़के हैं जिनको कुछ भी कष्ट नहीं है, किन्तु वे भी तो अनाहारी चांडाल पोद (बंगालकी एक नीच जाति) की अपेक्षा दुर्बल हैं। बड़े आदमियोंके लड़के ही वास्तवमें वानराकार हो रहे हैं। यह सच है, किन्तु एक पीढ़ीमें अन्नाभावका दोष दूर नहीं होता। जो पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे वानराकार हो रहे है, वे एक पीढी भरपेट भोजन पानेसे ही मनुष्याकार नहीं बन जाते। खासकर बड़े आदमियोंके लड़कोंकी बात तो छोड़ ही दो। वे हिल-डुलकर कोई काम नहीं कर सकते। इस कारण भूखकी कमीसे तैयार भोजनको भी खा नहीं सकते—खाये हुए आहारको पचा नहीं सकते। सभी देशोंमें ऐसे बाबुओंका दल वानराकार हुआ करता है। श्रमजीवी साधारण दरिद्र लोगोंका बाहुबल ही देशका बाहुबल है। बहुत लोग बिगड़कर कहेंगे कि अपना यह कठोर मन्तव्य रहने दो!

ये बातें तो हमने अक्सर सुनी हैं। क्यों, अगर देशमें खाने भरको अन्न नहीं होता तो यूरोपके भिन्न भिन्न देशोंको इतने चावल और गेहूँ यहाँसे कैसे भेजे जाते हैं? इस संप्रदायके लोग यह नहीं समझते कि देशमें यथेष्ट सामग्री न रहनेपर भी वह विदेश भेजी जा सकती है। जो अधिक दाम देगा, उसके हाथ चीज बिकेगी।

इस देशमें अगर कोई चीज यथेष्ट होती है तो वह चावल है। (पर अब वह भी नहीं।) चावलके बिना आहार न करनेका अवसर जिनको दुर्भाग्यवश प्राप्त होता है, उन लोगोंकी संख्या इस देशमें

बहुत ही कम है। बंगालके अधिकांश लोगोंको, और चाहे कुछ नसीब न हो, लेकिन सुसमय होनेपर, चावलकी कमी नहीं रहती। पेटभर भात प्राय: हरएक बंगाली पा जाता है। किन्तु पेटभर भात खा लेनेसे ही आहारकी पूर्ति नहीं हो सकती। केवल भात खाकर प्राणरक्षा मात्र की जा सकती है—उसके शरीरकी पुष्टि नहीं हो सकती। चावलमें बलकारक सार पदार्थ सौ भागमें सात भाग मात्र हैं। चर्बी, जो शरीरकी पुष्टिके लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है, चावलमें बिलकुल नहीं है।

केवल भात खानेवाले लोग अगर कम नहीं हैं तो अधिक भी नहीं है। बंगालके अधिकांश लोग भातके साथ जरा दालका पानी, एकआध मछलीका टुकड़ा और साग आलू या कच्चे केलेकी तर्कारी मिलाकर खाते हैं, तो उसे अच्छी तरह भोजन करना समझ लेते हैं। इस भोजनमें प्रायः पौने सोलह आने एक पाई भर भात दाल और दो पाई भर सालन रहता है। ऐसे भोजनको एक प्रकारसे 'सूखी रोटी खाना' ही कह सकते हैं। बंगालके चौदह आने लोग इसी तरहका आहार करते हैं। किसी तरहकी बाधा या विघ्न न उठ खड़ा हो, तो इतनेसे भी जीवन-रक्षा हो सकती है, और होती ही है। किन्तु ऐसे शरीरमें रोग बहुत सहजमें अपना घर बना लेते हैं। (मलेरिया ज्वर इस बातका साक्षी है) और ऐसे शरीरमें बल नहीं रहता। इसी लिए बंगालियोंके बाहुबल नहीं है।

इन्हीं सब बातोंपर सोच विचार कर बहुत लोग कहते हैं कि जब तक बंगाली साधारणतः मांसाहार न करेंगे, तबतक उनके बाहुबल न होगा। हम यह बात नहीं कहते। मांसका प्रयोजन नहीं है। दूध, घी, आटा, मैदा, दाल, चने, अच्छी साग-सब्जी, यही उत्तम आहार है। इसका दृष्टान्त युक्त प्रान्तके आदमी है। वे लोग पेट भरकर बलकारक

आहार रोटी और उसके साथ थोड़ा-सा भात खाते हैं। बंगाली भी अगर भातकी मात्रा घटाकर रोटी आदि सामग्रीकी मात्रा बढ़ा दें तो एक पीढ़ीमें निरोग और तीन पीढ़ियोंमें बलिष्ठ शरीरवाले हो सकते हैं।

मैं ये सब बातें रामधन पोदको समझा रहा था। रामधन पोदका सारा परिवार रोगी रहता है। रामधन पोदने हाथ जोड़कर कहा—"आपने सब ठीक कहा—मगर दूध, घी, आटा? भैया, ये सब चीजें हमको कहाँ नसीब? ऐसा जमाना लग गया है कि पेटभर भातका भी खर्च उठाये नहीं उठता।"

मैंने सोचकर देखा, बात सच है। मैं रामधन पोदके यहाँ धान कूटनेकी जो ढेंकी थी उसके काठपर बैठा हुआ था। दहलानमें एक बड़ा कुत्ता लेटा हुआ था, इससे मैं और आगे नहीं बढ़ सका। वहींसे मैं रामधन पोदकी वंशावलीका परिचय पा रहा था। रामधनने एक एक करके दिखलाया कि उसके चार लड़के, पाँच लड़कियाँ हैं। एक लड़के और तीन लड़कियोंका व्याह करना बाकी है। नीच जातियोंमें लड़का व्याहनेमें भी खर्च होता है और लड़की व्याहनेमें भी। लेकिन लड़कीके व्याहमें कम खर्च होता है। उसने कहा—"एक लड़केका व्याह करनेका तो ठिकाना है नहीं, आप दूध, घी, आटेकी बात चला रहे हैं!" मैंने अपने मनमें कहा—बेशक, मेरी यह बात असंगत ही हुई है। जान पड़ा, जैसे वह जमीनपर लेटा हुआ कुत्ता भी मुझपर खफा होकर तर्जन-गर्जन करनेका उद्योग कर रहा है। जान पड़ा, जैसे वह कह रहा है कि मुझे मुट्ठीभर जूठा भात तो मिलता नहीं, और तुम बूट-जूते डाँटे इस ढेंकीके ऊपर बैठे घी-आटेका जिक्र चला रहे हो! एक रोमशून्य बिल्ली मेरी ओरसे फिरकर दुम उठाये उधरहीसे चली गई। रामधनके उस नीरस घरमें घी, दूध, मक्खनकी बात सुनकर वह निस्सन्देह मेरा उपहास करके चली गई!

मैंने रामधनसे कहा—चार लड़के—तीन लड़कियाँ ? और उसपर दो बहुएँ ले आये हो ?" उसने हाथ जोड़कर कहा—"जीं हाँ, आपके आशीर्वादसे दो बहुएँ आ गई हैं।"

मैंने कहा—उनके भी कोई बाल-बच्चा हुआ है ?

रामधनने कहा—जी हाँ, एकके दो लड़कियाँ हैं और एकके एक लड़का है।

मैंने कहा—बैरीकी आँखोंमें राई-मौन, परिवार तो तुमने खूब बढ़ा रक्खा है ! बड़ा परिवार होनेके कारण पहले ही तुमको खाने-पीनेका कष्ट था, अब तो वह कष्ट और भी बढ़ गया होगा ?

रामधन—जी हाँ, अब खाने-पीनेका बड़ा कष्ट है।

तब मैंने रामधनसे पूछा—तो तुमने इतना परिवार क्यों बढ़ा लिया ?

रामधनने कुछ विस्मित होकर कहा—यह क्या साहब, मैंने परिवार बढ़ाया ? विधाताने बढ़ाया।

मैंने कहा—गरीब विधाताको वृथा दोष मत दो। लड़कोंका ब्याह तुमने ही किया है। इस कारण तुमने ही दो बहुएँ बढ़ा ली हैं और लड़कोंका ब्याह करनेसे ही दो पोतियों और एक पोतेकी वृद्धि हो गई है।

रामधनने बहुत ही कातर भावसे कहा—आप इस तरह मेरे परिवारकी बढ़तीको न खूँटिए; अभी उस दिन मेरा एक महीने-भरका पोता मर चुका है।

मैंने दुःख प्रकट करके पूछा—वह कैसे मरा रामधन ?

रामधन ठीक उत्तर न देता था। बहुतसे जिरहके सवाल करके मैंने यह जान लिया कि माताके दूध न होनेसे उसकी मृत्यु हो गई है।

माताके पीड़ित हो जानेसे दूध न निकलता था, उधर रामधनकी गऊ भी मर चुकी थी। दूध मोल लेकर पिलानेका सामर्थ्य नहीं था। लड़का खानेको न पाकर पेटकी पीड़ा भुगतकर मर गया। अनाहारका एक फल पेटकी पीड़ा भी है, इस बातको शायद बहुत लोग नहीं जानते।

रामधनसे फिर पूछा—अब तुम छोटे लड़केका ब्याह करोगे?

रामधनने कहा—रुपयोंका इन्तजाम होते ही वह काम भी कर डालूँगा।

मैंने कहा—ये जो बहुएँ आगई हैं, इन्हींको पेटभर खानेको नहीं जुरता, फिर और आदमी क्यों बढ़ाते हो? ब्याह करनेसे, पहले तो बहू आवेगी, उसे खानेको देना होगा। उसके भी दो चार बच्चे होंगे—उन्हें भी खानेको चाहिए। यों ही तो पूरा नहीं पड़ता, उसपर तुम और एक लड़का ब्याहना चाहते हो?

रामधनने बिगड़कर कहा—लड़केका ब्याह कौन नहीं करता? जिसे खानेको जुरता है वह भी करता है और जिसे नहीं जुरता वह भी करता है।

मैंने कहा—जिसे खानेको नहीं जुरता, उसका लड़केका ब्याह करना क्या अच्छा है?

रामधनने कहा—संसार-भरमें यही तो हो रहा है।

मैंने कहा—संसार भरमें नहीं रामधन, केवल इसी देशमें। ऐसी मूर्ख जाति और किसी देशमें नहीं है।

रामधनने कहा—जब देशभरके लोग कर रहे हैं, तब मेरे ही ऐसा करनेमें दोष क्या हुआ?

ऐसे निर्बोधको किस तरह समझाता! मैंने कहा—रामधन, देश भरके आदमी अगर गलेमें रस्सी बाँधकर जान दे दें, तो क्या तुम भी यही करोगे?

रामधन चिल्लाकर बोला,—आप कहते क्या [illegible]... गलेमें... फाँसी लगाना और बेटा ब्याहना क्या एक ही बात है ?

मुझे भी कुछ क्रोध आ गया। मैंने कहा—एक ही बात कौन कहता है रामधन! इस तरह लड़केका ब्याह करनेकी अपेक्षा गलेमें फाँसी लगाना बहुत अच्छा है। अपने गलेमें फाँसी न लगा सको, तो लड़केके गलेमें लगा देना।

यह कहकर मैं ढेंकीपरसे उठकर चला आया। घर आकर गुस्सा उतरने पर सोचा कि इसमें गरीब रामधनका क्या अपराध है? देश-भरमें ऐसे ही रामधन भरे पड़े हैं। यह तो गरीब पोदका लड़का है—विद्या-बुद्धि नहीं रखता। किन्तु जो लोग कृतविद्य कहकर अपना परिचय देते हैं—सुशिक्षित होनेका दावा करते हैं—वे भी रामधनसे दो हाथ आगे बढ़े हुए हैं। घरमें खानेको हो चाहे न हो, लड़केका ब्याह पहले कर देंगे। केवल दाल और मोटा भात खाकर, सात पुरखोंसे, जली लकड़ीके ऐसा आकार धारण किये हैं—ज्वर और पिलहीसे परेशान हैं—तो भी वही कुत्सित आहार खानेके लिए, अनाहारका भाग बँटानेके लिए, ज्वर और पिलही रोगका विस्तार बढ़ानेके लिए, गाँठके रुपये खर्च करके पराई लड़की अपने घर लानी ही होगी। मनुष्य-जन्ममें यही उनके लिए सुख है। जो गृहस्थ होकर लड़केका ब्याह न कर सका—उसका जन्म ही वृथा है। यह विचार कर देखनेकी कोई आवश्यता नहीं समझी जाती कि ब्याहके बाद लड़का बेचारा अपनी स्त्रीको खिला-पिला सकेगा या नहीं। इधर स्कूल-कालेज छोड़ते छोड़ते ही लड़का एक छोटी-सी बच्चोंकी पल्टनका बाप बन बैठता है। उसकी रसद जुटानेमें ही बाप-दादेका नाकमें दम हो जाता है। गरीब विवाहित युवक तब पोथी-पत्रा बाँधकर उम्मेदवारीमें लग

जाता है। हाथ जोड़कर द्वार द्वारपर हाय नौकरी, हाय नौकरी, करता फिरता है। शायद वह लड़का एक आदमी ऐसा आदमी हो सकता। शायद उस समय अपनी राह पहचानकर जीवन क्षेत्रमें प्रवेश कर सकनेसे वह अपने जीवनको सार्थक कर सकता। किन्तु राह पहचाननेके पहले ही वह आशा जाती रही। उम्मेदवारीकी यन्त्रणा और नौकरीके निष्पेपणसे—गृहस्थी चलानेके कष्टोंसे उसका हृदय और शरीर विकल हो गया। ब्याह हो गया है, लड़केवाले हो गये हैं। अब मार्ग खोजनेका अवसर नहीं है—इस समय वही एक उम्मेदवारीका मार्ग खुला है और उसके द्वारा लोकोपकार होनेकी कोई संभावना नहीं है। क्योंकि अपनी स्त्री और बाल-बच्चोंका उपकार करनेसे ही फुरसत नहीं मिलती। वे ही रात-दिन 'दो, दो' की धुन लगाये रहते हैं। देशका हित करनेकी क्षमता नहीं रहती। स्त्री-पुत्रके हितके लिए ही सर्वस्व अर्पण कर देना पड़ता है। लिखने-पढ़ने और धर्म-चिन्ताके साथ कोई संबंध नहीं रहता। लड़केको दुलराने और खिलानेमें ही समय बीत जाता है। जो रुपया वह पेट्रियटिक एसोसियेशनको चंदेमें दे सकता, उससे उसका लड़का अपनी स्त्रीको गहने बनवा देगा। इस पर भी हमारे यहाँके रामधन अगर बचपनमें लड़केका ब्याह नहीं कर सकते, तो उससे लड़केका भी सर्वनाश समझते हैं और अपना भी। लड़का होनेसे 'उसका ब्याह करना ही होगा, हरएक मनुष्यको ब्याह करना ही चाहिए और लड़केका बचपनमें ब्याह कर देना भी प्रधान कार्य है, ऐसा भयानक भ्रम जिस देशमें सर्वव्यापी है उस देशकी भलाई कहाँसे हो सकती है? जिस देशमें मा-बाप लड़केको तैरना सीखनेसे पहले ही स्त्री-रूप पत्थर गलेमें बाँधकर दुस्तर संसार-सागरमें डाल देते हैं, उस देशकी उन्नति कैसे हो सकती है?

———

मेघ

मैं न बरसूँगा। क्यों बरसूँ ? बरसनेसे मुझे क्या सुख है ? बरसनेसे तुम्हें सुख है। लेकिन तुम्हारे सुखसे मुझे क्या प्रयोजन ?

देखो, मेरे क्या यन्त्रणा नहीं है ? इस दारुण बिजलीकी आगको मैं सदा हृदयमें धारण करता हूँ। मेरे हृदयमें इस सुहासिनी सौदामिनीका उदय देखकर तुम प्रसन्न होते हो, तुम्हारी आँखें ठंडी होती हैं, मगर इस बिजलीके स्पर्शसे ही तुम जल जाते हो। इसी आगको मैं हृदयमें रखता हूँ। मेरे सिवा किसकी मजाल है कि इस आगको हृदयमें रक्खे ?

देखो, वायु सदा मुझको अस्थिर किये रहता है। वायुको दिशा-विदिशाका ज्ञान नहीं है। वह सब ओरसे चलता है। जब मैं जलके बोझसे भारी रहता हूँ, तब वायु मुझे उड़ा नहीं सकता।

तुम डरना नहीं, मैं अभी बरसता हूँ, पृथ्वी अन्नसे हरी भरी हो उठेगी। मुझे पूजा चढ़ाना।

मेरा गरजना अत्यन्त भयानक है। तुम इससे डरना नहीं। जब मैं मन्द गम्भीर शब्दसे भर जाता हूँ, वृक्षोंके पत्तोंको हिलाकर, मोरोंको नचाकर, मृदु गंभीर गर्जना करता हूँ, तब इन्द्रके हृदयमें पड़ी हुई कल्पवृक्षके फूलोंकी माला हिल उठती है, कृष्णचन्द्रके सिरपरका मोर-मुकुट डोलने लगता है, पर्वतोंकी कन्दराओंसे प्रतिध्वनि होने लगती है। और भैया, वृत्रासुरके वधके समय वज्रकी सहायतासे जो मैंने गर्जन किया था, तुम उस गर्जनको सुननेकी इच्छा न करना—डर मालूम होगा।

बरसूँगा क्यों नहीं ? देखो, कितनी ही जूहीकी कलियाँ मेरे जलकणोंकी आशासे ऊपर मुँह उठाये हुए हैं। उनके मुखमें स्वच्छ जल मैं न सींचूँगा तो और कौन सींचेगा ?

बरसूँगा क्यों नहीं ? देखो, नदियोंका शरीर अभी तक पुष्ट नहीं हुआ। वे मेरी दी हुई जलराशिको पाकर परिपूर्ण हृदयसे हँसतीं, हँसतीं, नाचतीं नाचतीं, कलरव करती हुई अनन्त सागरकी ओर चलेंगी। यह देखकर किसे बरसनेकी साध न होगी ?

मैं नहीं बरसूँगा। देखो, यह पाजी औरत मेरे ही दिये पानीको नदीसे कलसीमें भर कर लिये जाती है और ' आग लगे इस बरसनेपर, बूँदका तार नहीं टूटता ! ' कह कर मुझको ही गालियाँ देती चली जाती है ! मैं नहीं बरसूँगा ।

देखो, घरमें पानी टपकनेके कारण किसान मुझको ही गालियाँ दे रहा है। नहीं तो वह किसान ही काहेका ? मेरा जल न मिलता तो उसकी खेती न होती—मैं उसका जीवनदाता हूँ। भैया, मैं न बरसूँगा।

मुझे याद है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां ।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः ॥

कालिदास वगैरह जहाँ मेरी स्तुति करनेवाले हैं वहाँ मैं क्यों न बरसूँगा ? मेरी भाषाको कविवर शेली समझते थे। जब मैं कहता हूँ— I being fresh showers for the thirsting flowers, तब उस गंभीर वाणीके मर्मको शेली जैसा कवि हुए विना कौन समझ सकता है ? क्यों, जानते हो ? कवि मेरे ही समान हृदयमें बिजलीकी आग धारण करता है। प्रतिभा ही उसके अनन्त हृदयाकाशकी बिजली है।

मैं अत्यन्त भयंकर हूँ। जब अन्धकारमें मैं कृष्ण-करालरूप धारण करता हूँ, तब मेरी टेढ़ी भौंहोंको कौन सह सकता है? मेरे ही हृदयकी यह विद्युत् तब दम दम भर पर चमकने लगती है। मेरी निःश्वाससे चराचर जगत् उड़ने लगता है। मेरे शब्दसे ब्रह्माण्ड काँप उठता है।

साथ ही मैं मनोरम भी कैसा हूँ! जब पश्चिमके आकाशमें, सन्ध्याके समय, अरुणवर्ण सूर्यकी गोदमें खेलकर मैं सुनहरी लहरोंके ऊपर लहरें फैलाता हूँ, तब कौन ऐसा है जो मेरी उस क्रीड़ा और रंगको देखकर मुग्ध न हो जाता हो! चाँदनी रातको आकाशमें मन्द पवनकी सवारी-पर चढ़कर कैसी मनोहरमूर्ति धारण करके मैं विचरता हूँ। सुनो पृथ्वीपरके रहनेवालो, मैं बहुत सुन्दर हूँ, तुम मुझको सुन्दर कहना।

और एक बात है। वह कह कर मैं अब बरसने जाता हूँ। पृथ्वी-तलपर एक बहुत गुणोंसे सम्पन्न कामिनी है, उसने मेरे मनको हर लिया है। वह पर्वतोंकी कन्दरामें रहती है, उसका नाम प्रतिध्वनि है। मेरी आवाज सुनते ही वह आकर मुझसे बातचीत करने लगती है। जान पड़ता है, वह मुझे प्यार करती है। मैं भी उसके आलापसे मुग्ध हो रहा हूँ। तुममेंसे कोई सम्बन्ध ठीक करके उसके साथ मेरा ब्याह करा दे सकता है?

———

वृष्टि

चलो नीचे उतरें, असाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें। हम छोटी छोटी वर्षाकी बूँदें हैं। अकेली एकजनी तो जूहीकी कलीका मुँह भी नहीं धो सकती—मल्लिकाके छोटेसे हृदयको भी नहीं भर सकती। किन्तु हम हजारों, लाखों, कराड़ों हैं। चाहे तो पृथ्वीको बोर दें। छोटा या क्षुद्र कौन है?

देखो, जो अकेला है वही क्षुद्र है—वही सामान्य है! जिसमें एका नहीं है वही तुच्छ है। देखो बूँदो, कोई अकेले नीचे न उतरना—आधी ही राहमें इस प्रचण्ड सूर्यकी किरणोंसे सूख जाओगी--चलो, हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें नीचे उतरकर सूखी हुई पृथ्वीको भर दे।

पृथ्वीको डुबा देंगी। पर्वतकी चोटीपर चढ़कर उसकी छातीपर पैर रखकर पृथ्वीपर उतरना होगा--झरनेके मार्गमें मोतीका आकार धारण करके निकलेंगी। नदियोंके शून्य हृदयको परिपूर्ण करके, उन्हें रूपका वस्त्र पहनाकर, महा तरंगोंसे भीषण बाजा बजाकर, लहरके ऊपर लहर उठाकर हम क्रीड़ा करेंगी। आओ, सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा--वायु? हिश! वायुके कंधेपर चढ़कर हम देश-देशान्तरमें घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्धमें वायु हमारा घोड़ा है---उसकी सहायता पावें, तो हम जल-थल एकाकार कर दें। हवाकी सहायता मिलनेसे हम बड़े बड़े घरोंको ढहा देनेकी शक्ति रखती हैं। वायुके कन्धेपर चढ़कर हम लोगोंके घरोंके दरवाजोंके भीतर घुसती हैं। युवतीकी बड़े यत्नसे बिछाई हुई शय्याको हम भिगो देती हैं—सोती हुई सुन्दरीके ऊपर जाकर गिर पड़ती हैं। वायु तो हमारा गुलाम है।

देखो भाई, कोई अकेले न नीचे उतरना। एका ही हमारा बल है। नहीं तो हम कुछ भी नहीं हैं। चलो--हम क्षुद्र वृष्टि-बिन्दु हैं--किन्तु पृथ्वीके प्राणोंकी रक्षा करेंगी। खेतोंमें अन्न उपजावेंगी–मनुष्योंके प्राणोंकी रक्षा होगी। नदियोंमें नावें चलेंगी, मनुष्योंका रोजगार चलेगा। तृण लता वृक्ष आदिको पुष्ट करेंगी--पशु पक्षी कीट पतंग जीवन पावेंगे। हम क्षुद्र वृष्टि-बिन्दु हैं, पर हमारे समान कौन है? हम ही संसारकी रक्षा करती हैं।

तो फिर आ नवनील मेघमाला! आ वृष्टि-बिन्दुओंकी जननी! आ माता दिङ्मण्डलव्यापिनी! सूर्यतेजसंहारिणी! आ, आकाशमण्डलको घेर ले, हम नीचे उतरें! आओ बहन सुहासिनी सौदामिनी! वृष्टि-बिन्दु-कुलके मुखको उज्ज्वल करो। हम हँसती नाचती हुई पृथ्वीतलपर उतर पड़ें। तुम वृत्रासुरके मर्मस्थलको काटनेवाला वज्र हो, तुम भी गरजो। इस उत्सवमें तुम्हारे सिवा और उपयुक्त बाजा कौन है? तुम भी पृथ्वी-तलपर गिरोगी? गिरो, किन्तु केवल गर्वसे उन्नत मस्तकपर ही गिरना। इस परोपकारी क्षुद्र अन्नके ऊपर मत गिरना। हम इसकी रक्षा करने जाती हैं। गिरना हो, तो इस पर्वतके शिखरपर गिरो। जलाना हो तो इन चोटीपरके पेड़ोंको जलाओ। क्षुद्रसे कुछ न बोलना। हम क्षुद्र हैं, क्षुद्रके लिए हमारे हृदयमें बड़ी व्यथा होती है।

देखो देखो, हमें देखकर पृथ्वीपरके लोगोंका आह्लाद देखो। पेड़ वगैरह सिर हिला रहे हैं--नदी हिल डुल रही है, बड़े बड़े वृक्ष सिर झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं। किसान खेत जोत रहा है, लड़के भीग रहे हैं। केवल बनियेकी औरत आमका रस लिये भीतर भागी जा रही है। मर हरामजादी! दो एक अमरसके टुकड़े रक्खे न जा—हम खायेंगीं। दो, इसके कपड़े भिगो दो।

हमने जलकी जातिमें जन्म पाया है, लेकिन तो भी हम रंग-रस करना जानती हैं। लोगोंके छप्पर फाड़कर घरके भीतर झाँकती हैं—स्त्री-पुरुष जिस घरमें सोये होते हैं, वहाँ छतके छेदसे भीतर जाकर उनको चौंका देती हैं। जिस राहमें बहू-बेटियाँ कलसी लेकर पानी भरने जाती है, उसी राहमें हम कीचड़ कर रखती हैं। चमेलीका पराग धो डालकर भौरोंको भूखों मारती हैं। नौकर-चाकर कपड़ा धोकर फैलाते हैं, तो उन्हें कीचड़में डालकर उनका काम बढ़ा देती हैं। हम क्या कम दिल्लगीबाज हैं? तुम सब चाहे जो कुछ कहो, हम रसिका हैं।

खैर इसे जाने दो, हमारा बल देखो। देखो, पर्वत, कन्दरा, घर-द्वार आदि सबको धोकर हम एक नई ही हरीभरी पृथ्वीकी रचना कर देगी। देखो, शिथिल दुर्बल नदीको कूलप्लाविनी, देशको डुबानेवाली, अनन्त-तरंग-संकुला लंबे-चौड़े पाटकी जल-राक्षसी बना देगी। किसी देशके मनुष्योंकी रक्षा करेंगी, किसी देशके मनुष्योंका (बहियाके द्वारा) संहार करेंगी—कितने ही जहाजोंको ठिकानेपर पहुँचा देंगी और कितने ही जहाजोंको डुबाकर ठिकाने लगा देंगी, पृथ्वीको जलमयी बना देगी। फिर भी हम क्षुद्र हैं! हमारा ऐसा क्षुद्र और कौन है? हमारा ऐसा बलवान् और कौन है?

जुगनू

यह मेरी समझमें नहीं आता कि जुगनू क्यों हमारे उपहासका पात्र है। जान पड़ता है, चन्द्र-सूर्य आदि बड़े प्रकाशोंके संसारमें रहनेके कारण ही जुगनूका इतना अपमान है। जहाँ अल्पगुणविशिष्ट व्यक्तिका उपहास करना होता है, वहीं वक्ता या लेखक जुगनूका आश्रय ग्रहण करते हैं। किन्तु मुझे देख पड़ता है कि जुगनूके थोड़ा हो या बहुत, प्रकाश तो है। कहाँ, हममें तो कुछ भी प्रकाश नहीं है। इस अन्धकारमें पृथ्वीपर जन्म लेकर हम किसके मार्गमें प्रकाश डाल सके हैं? हमें देखकर अन्धकारमें, दुस्तर मैदानमें, दुर्दिनमें, संकटमें किसने कहा है कि आओ भाई, चलो चलो, वह देखो, प्रकाश हो रहा है—चलो, यही प्रकाश देखकर राह चलो। अन्धकार है—इस पृथ्वीमें भाई, बड़ा अन्धकार है—राह चलना कठिन है। जब चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तब राह चलता हूँ—नहीं तो चल नहीं सकता। तारागण आकाशमें उदय होकर कुछ प्रकाश अवश्य करते हैं, किन्तु दुर्दिनमें वे भी नहीं देख पड़ते। चन्द्र सूर्य भी सुदिनके हैं, दुर्दिनमें या दुःसमयमें जब मेघकी घटा, बिजलीकी छटा, रात और घोर वर्षा होती है, तब कोई नहीं होता। मनुष्य-निर्मित वन्यकी तरह वे भी कहते हैं—Hora non numero visi serenos! केवल तुम जुगनू,—क्षुद्र, क्षीण प्रकाशवाले, घृणित, सहजमें मार डालनेके योग्य, सर्वदा मरे रक्खे हुए तुम जुगनू—उस अन्धकार दुर्दिनमें, वर्षामें देख पड़ते हो। तुम ही अन्धकारमें प्रकाश हो। मैं तुमको प्यार करता हूँ।

मैं तुमको प्यार करता हूँ। क्योंकि तुममें थोड़ा, बहुत थोड़ा, प्रकाश है। तुम भी अन्धकारमें हो, और भाई मैं भी घोर अंधकारमें हूँ। अंध-

कारमें क्या सुख नहीं है ? तुम भी अंधकारमें बहुत घूमे हो, भला बतलाओ, अन्धकारमें सुख नहीं है ? जब आधी रातकी बदलीके अन्धकारमें जगत् ढँक जाता है, वर्षा होती है, बंद हो जाती है, और फिर होने लगती है—चन्द्रमा नहीं, तारा नहीं, आकाशकी नीलिमा नहीं, पृथ्वीपर दीपक नहीं, खिले हुए फूलोंकी शोभा तक नही—केवल अन्धकार ही अंधकार होता है—केवल अन्धकार ही होता है और तुम होते हो—तब बतलाओ, अन्धकारमें क्या सुख होता है ? उस समय अन्धकारपूर्ण ससार और तुम ही होते हो। जगतमें अन्धकार होता है और श्यामल स्निग्ध वृक्षोंकी पत्तियोंके बीच तुम चमकते फिरते हो। बतलाओ भाई, उस अन्धकारमें सुख है या नहीं ?

मैं तो कहता हूँ कि है। नहीं तो किस साहससे तुम इस अंधकारकी बहियामें और मैं इस सामाजिक अँधेरेमें, इस घोर दुर्दिनमें, संसारको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करनेकी चेष्टा करते हैं ? है, अन्धकारमें मग्न होनेमें सुख—आमोद है। कोई देखेगा नहीं, अन्धकारमें तुम ज्वलित होओगे, और इस अँधेरेके अन्धकारमें मैं जलूँगा; अनेक ज्वालाओंसे जलूँगा। जीवनका तात्पर्य समझनेमें अत्यन्त कठिन, अत्यन्त गूढ़ और अत्यन्त भयंकर है। सोचो तो, क्षुद्र होकर तुम क्यों प्रज्वलित होते हो, और क्षुद्र होकर मैं ही क्यों जलता हूँ ? तुम क्या इस बातको सोचते हो ? तुम अगर नहीं सोचते तो तुम सुखी हो। मैं तो सोचता हूँ, मैं असुखी हूँ। तुम कीट हो, और मैं भी कीट—अत्यन्त क्षुद्र कीट—हूँ। तुम सुखी हो, मैं किस पापसे असुखी हूँ ? तुम क्या सोचते हो कि तुम जगतके प्रकाशक सूर्य क्यों नहीं हुए ? आकाश और समुद्रकी शोभा चन्द्रमा क्यों नहीं हुए ? क्यों न वही हुए ? तुम क्या कभी सोचते हो कि ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, छायापथ आदि कुछ न

होकर तुम जुगनू ही क्यों हुए ? जिस ईश्वरने इन सब चीजोंकी सृष्टि की है, उसीने तुम्हारी भी सृष्टि की है। जिसने इन सबको प्रकाश दिया है उसीने तुमको भी प्रकाश दिया है। उसने एकको बड़ा और दूसरेको छोटा क्यों बनाया ? अन्धकारमें इतना घूमकर सोचनेसे तुमने कुछ जाना है ?

तुम सोचो या न सोचो, मैं सोचता हूँ। मैंने सोचकर निश्चय किया है कि विधाताने तुमको और मुझको केवल अँधेरी रातके लिए ही भेजा है। तुम्हारा और सूर्यका प्रकाश एक ही है—दोनों ही जगदीश्वरके दिये हुए हैं; तथापि तुम केवल वर्षाकी रातके लिए हो और मैं भी केवल इस वर्षाकी रातके लिए हूँ। आओ रोवें।

आओ रोवें। वर्षाके साथ तुम्हारा और मेरा नित्य सम्बन्ध क्यों है ? प्रकाशपूर्ण नक्षत्रोंकी आभासे उज्ज्वल वसन्तऋतुके आकाशमें तुम्हारे और मेरे लिए स्थान क्यों नहीं है ? वसन्त चन्द्रमाके लिए है, सुखीके लिए है, निश्चिन्तके लिए है, और वर्षा तुम्हारे लिए है, दुखीके लिए है, मेरे लिए है। इसी लिए मैंने रोनेकी इच्छा प्रकट की थी—किन्तु न रोऊँगा। जिसने तुम्हारे और मेरे लिए इस संसारको अन्धकारमय बनाया है, रोकर उसको दोष न दूँगा। यदि उसकी यही इच्छा है कि अन्धकारके साथ तुम्हारा मेरा नित्य सम्बन्ध रहे, तो आओ, अन्धकारको प्यार करें। आओ, नवीन नील मेघमाला देखकर इस अनन्त असंख्य विश्व-ब्रह्माण्डकी कराल छायाका अनुभव करें—मेघगर्जनको सुनकर सर्वध्वंसकारी कालके अविश्रान्त गर्जनका स्मरण करें। बिजलीकी चमकको कालका कुटिल कटाक्ष समझें। समझें कि यह ससार बिल्कुल ही क्षणस्थायी है, तुम भी क्षणस्थायी हो और मैं भी क्षणस्थायी हूँ। रोनेकी कोई बात नहीं है, वर्षाके लिए ही हम और तुम भेजे गये थे। आओ, चुपचाप जलते जलते—अनेक ज्वालाओंमें जलते जलते—सब सहें।

नहीं तो, आओ, मरें। तुम दीपकके प्रकाशकी प्रदक्षिणा करते हुए जल मरो, और मैं आशारूप उज्ज्वल महादीपकके चारों ओर चक्कर लगा लगाकर जल मरूँ। दीपकके प्रकाशमें तुम्हारे लिए क्या मोहिनी है, सो तो मैं नहीं जानता, किन्तु आकाशमें मेरे लिए जो मोहिनी है उसे मैं जानता हूँ। इस प्रकाशमें न जाने कितनी बार मैं फाँदा, कितनी बार जला, किन्तु मरा नहीं। यह मोहिनी क्या है सो मैं जानता हूँ। बड़ी साध थी कि ज्योतिको प्राप्त होकर इस संसारमें प्रकाश फैलावेंगे; किन्तु हाय! हम जुगनू हैं। हमारे इस प्रकाशसे कुछ भी प्रकाशित न होगा। जाने दो, कुछ काम नहीं। तुम इस बकुल-कुञ्ज-किशलयके अन्धकारमें अपना क्षुद्र प्रकाश बुझा दो, और मैं भी जलमें या स्थलमें, रोगमें या दुःखमें, इस क्षुद्र प्राण-दीपकको बुझा दूँ।

पुष्प-नाटक

जूही—आओ आओ प्राणनाथ, आओ, मेरे हृदयके भीतर आओ, मेरा हृदय भर जाय। कबसे तुम्हारी आशामें मुँह उठाये बैठी हूँ—यह क्या तुम नहीं जानते? मैं जब कलिका—बालिका—थी, तब यह बड़ा भारी अग्निचक्र—यह त्रिभुवनको सुखानेवाला महापाप—पूर्वके आकाशमें आया था। उस समय इसकी जगतको जलानेवाली ऐसी विकराल मूर्ति न थी। उस समय इसके तेजमें इतनी ज्वाला भी न थी। हाय! उस समयको कितनी देर हुई! इस समय देखो, यह महापाप क्रमशः आकाशमें चढ़कर, ब्रह्माण्डको तापसे जलाकर, क्रमशः पश्चिम दिशामें नीचे गिरता हुआ शायद अनन्तमें डूब जानेवाला है। जाने दो! दूर हो—हाँ, तुम इतनी देरतक कहाँ थे प्राणनाथ? तुम्हें पाकर शरीर शीतल हुआ, हृदय भर गया—छिः, मिट्टीमें न गिरना। मेरे हृदयमें तुम हो, इससे यह जली हवा मुझे नहीं जलाती, बल्कि तुम्हारी शोभा बढ़ा रही है। इस धूपके प्रकाशसे तुम रत्नके समान सुन्दर चमकीले जान पड़ते हो। तुम्हारे रूपसे मैं भी रूपवती हो रही हूँ। ठहरो ठहरो, हृदयको शीतल करनेवाले, मेरे हृदयमें ठहरो, मिट्टीमें न गिरना।

बेला—(विष्णुक्रान्तासे, आड़में) देखो, बहन विष्णुक्रान्ता—लड़कीके ढँग देखो!

विष्णुक्रान्ता (अपराजिता)—किस लड़कीके?

बेला—इसी जूहीके। अभीतक मुँह बंद किये, गर्दन झुकाये, दुकानकी लैयाकी तरह पड़ी हुई थी—उसके बाद आकाशसे वर्षाका एक बिन्दु—

नवाबजादेकी तरह हवाके घोड़ेपर चढ़ा हुआ आकाशसे ऊपर आकर टपक पड़ा। वैसे ही लड़की खुलकर खिलकर फूल उठी। अभी कमसिन है न! बच्चोंका ढँग ही जुदा होता है।

विष्णुक्रान्ता—आः, छि छि।

जूही—इतनी देर कहाँ थे प्राणनाथ! तुम्हें नहीं मालूम कि मैं तुम्हारे विना जीवन-धारण नहीं कर सकती।

विन्दु—दुःखित न होना प्राणप्यारी! बहुत समयसे आनेका विचार कर रहा था, किन्तु नहीं आ सका। तुमको नहीं मालूम, आकाशसे पृथ्वीपर आनेमें अनेक विघ्न हैं। अकेले आया नहीं जाता, दल-बल लेकर आना पड़ता है। सबका मिजाज और मर्जी सब समय एक-सी नहीं रहती। कोई आपके रूपको पसन्द करता है—अपनेको बड़ा आदमी समझकर आकाशके ऊँचे स्थानमें अदृश्य होकर रहना पसंद करता है। कोई कहता है, जरा ठंडक होने दो, वायुकी निचली तह बहुत गर्म है, अभी जानेमें सूख जानेका डर है। पृथ्वीपर उतरनेको अधःपतन समझ कर कुछ साथी अधःपतनके लिए तैयार नहीं होते। कोई कहता है, मिट्टीमें गिरनेकी कोई जरूरत नहीं है, आकाशमें कलमुँहा मेघ बनकर सदा बने रहें, यही अच्छा। कोई कहता है, मिट्टीपर गिरनेकी जरूरत नहीं है, फिर उन्हीं पुराने नदी नालोंके भीतर होकर खारी समुद्रमें गिरना होगा। उसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि आओ, इस उज्ज्वल धूपमें खेलें, सब मिलकर इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न करें, पृथ्वी और आकाशके लोग उसे देखकर मोहित हो जायँ। खैर, किसी तरह अगर सब आकाशमें एकत्र हो जाते हैं, तो भी सबकी राय नहीं मिलती। कोई कहता है, अभी रहने दो—अभी आओ, कालिमामयी काली कराल मेघमाला बनकर बिजलीकी माला गलेमें धारणकर यहाँ बैठे बैठे हम

बहार देखें। कोई कहता है—इतनी जल्दी क्या है? हम जलवंशमें उत्पन्न हैं, भूलोकका उद्धार करने जायँगे—क्या इसी तरह चुपचाप चल दें? आओ, जरा गरज तो लें। कोई गरजता है, कोई बिजलीकी क्रीड़ा देखता है। बिजली बड़े रंग दिखलाती है—कभी इस मेघकी गोदमें, कभी उस मेघकी गोदमें, कभी आकाशके छोरपर, कभी आकाशके बीचमें, कभी धीरे धीरे दमकती है और कभी जोरजोरसे चमकती है।

जूही—अगर बिजलीपर इतने लट्टू हो रहे थे तो फिर क्यों आये? वह बड़ी है और हम क्षुद्र हैं।

बिन्दु—अरे! छि, छि, नाराज क्यों होती हो? मैं क्या उस ढँगका आदमी हूँ? देखो, छोटे छोटे छोकरे हल्के होनेके कारण नहीं आये। हम भारी आदमी नहीं रह सके—उतर आये। खासकर इसलिए कि बहुत दिनोंसे तुम लोगोंको देखा सुना नहीं था।

कमलिनी—(तालाबके भीतरसे) वाह! बड़ा भारी है! आ न, तुझ ऐसे हजारोंको एक पत्तेपर बिठा रख सकती हूँ।

बिन्दु—असल बात भूल गईं? तालाबको भरता कौन है? हे पंकजिनी, वृष्टि न होती तो जगतमें पंक (कीचड़) भी न होती, जल भी न होता। तुम भी इस तरह हँस हँसकर अपनी बहार न दिखा सकतीं। हे जलजिनी, तुम हमारे घरकी लड़की हो, इसीसे हम तुमको हृदयपर रखकर पालते हैं। नहीं तो तुम्हारा यह रूप भी न रहता, यह महक भी न रहती और यह गर्व भी न रहता। पापिन, तू अपने बापके घरानेके बैरी उसी अग्निपिण्ड (सूर्य) की अनुरागिणी है?

जूही—प्राणनाथ, उस औरतके मुँह लगना तुम्हें नहीं सोहता। यह तो सबेरेसे मुँह खोले उसी अग्निमय नायकके मुँहकी ओर ताका

करती है। जिधर वह जाता है उधर ही इसका मुँह रहता है। न जाने कितने भौंरे और ममाखियाँ आती जाती हैं, तब भी इसे संकोच नहीं होता। ऐसी बेहया, पानीमें बहनेवाली, भौंरोंसे मेल रखनेवाली, कँटीली औरतसे बात करना ही ठीक नहीं।

विष्णुक्रान्ता—क्यों बहन जूही, क्या भौंरों और ममाखियोंका आना-जाना घर घर नहीं है?

जूही—अपने घरकी बात कहो दीदी, मैं तो अभी खिली हूँ। अभीतक मैं भौंरों और ममाखियोंका उपद्रव जानती ही नहीं।

बिन्दु—तुम्हीं क्यों ऐसे लोगोंसे बातचीत करती हो? जो खुद कलंकिनी (काली) है, वह तुम्हारी ऐसी अमल-धवल शोभा और ऐसी वासको कैसे देख सकती है?

कमलिनी— भला रे पानीके किनके! भला! खूब लेक्चर दे रहा है। वह देख वायु आ रहा है!

जूही—सर्वनाश! क्या कहा, वायु आ रहा है?

बिन्दु—हाँ, अब मैं नहीं ठहर सकता।

जूही—ठहरो न।

बिन्दु—ठहर न सकूँगा। वायु मुझे गिरा देगा—मैं उससे पेश नहीं पा सकता।

जूही—जरा और ठहरो न।

[वायुका प्रवेश]

वायु—(बिन्दुसे) उतर।

बिन्दु—क्यों महाशय?

वायु—मैं इस अमल मृदुल सुशीतल सुवासित खिली हुई कलीसे क्रीड़ा करूँगा। तू अधःपतित, नीचगामी, नीचवंश है। तू इस सुखके आसनपर बैठा रहेगा ? उतर।

बिन्दु—मैं आकाशसे आया हूँ।

वायु—अबे तू पार्थिव-योनि है। तुझे नीचगामी नाले आदिमें रहना चाहिए। तू इस आसनपर कहाँ ? उतर !

जूही—ठहरो न।

बिन्दु—वह ठहरने ही नही देता।

जूही—ठहरो न, ठहरो न, ठहरो न।

वायु—(जूहीसे) तू इतनी गर्दन क्यों हिला रही है ?

जूही—तुम हटो।

वायु—मैं तुमको गले लगाऊँगा सुन्दरी !

(जूहीकी हट हट कर भागनेकी चेष्टा।)

बिन्दु—इस गड़बड़में अब मैं नहीं रह सकता।

जूही—अच्छा तो फिर मेरे पास जो कुछ है, वह तुमको अर्पण करती हूँ, ले जाओ।

बिन्दु—क्या है ?

जूही—थोड़ा-सा मधु सञ्चित है और थोड़ा-सा परिमल है।

वायु—परिमल तो मैं लूँगा, उसी लोभसे आया हूँ। दे—

(वायु पुष्पपर बल-प्रयोग करता है।)

जूही—(बिन्दुसे) तुम जाओ; देखते नहीं हो, यह डकैत है !

बिन्दु—तुमको छोड़कर किस तरह जाऊँ ? किन्तु ठहर कर यह दृश्य देख भी नहीं सकता। जाता हूँ।

(वृष्टिबिन्दुका पृथ्वीपर पतन।)

बेला और विष्णुक्रान्ता—(बिन्दुसे) अब कहो भैया स्वर्गवासी! आकाशसे उतर कर आये थे न! अब मिट्टीमें गिरो, मोहरीमें बहो—

जूही—(वायुसे) छोड़ो! छोड़ो!

वायु—क्यों छोड़ूँ ? दे, परिमल दे।

जूही—हाय, कहाँ गये तुम अमल, स्वच्छ, सुन्दर सूर्यकी प्रतिभासे भासित, रसमय जलकण! इस हृदयको स्नेहसे भरकर फिर क्यों शून्य कर दिया ? एक बार रूप दिखाकर, स्निग्ध करके, कहाँ लीन हो गये प्राणनाथ ? हाय, मैं तुम्हारे संग क्यों नहीं गई—तुम्हारे साथ क्यों नहीं मर गई ? क्यों अनाथ अ-स्निग्ध पुष्प-देह लेकर इस शून्य प्रदेशमें बनी रही!

वायु—ले रोना रहने दे—परिमल दे—

जूही—छोड़ो, नहीं तो जहाँ मेरा प्यारा गया है वहीं मैं भी जाऊँगी।

वायु—जा, जायगी, परिमल दे। हूँ हुम!

जूही—मैं मरूँगी, मरती हूँ।—अच्छा जाती हूँ।

वायु—हूँ हुम!

(जूहीके फूलका पृथ्वीपर गिरना।)

वायु—हुँ:! हाय! हाय!

[यवनिका पतन]

EPILOGUE

१ श्रोता—नाटककार महाशय, यह क्या खाक पत्थर हुआ ?

२ श्रोता—ठीक तो है, एक जूहीका फूल नायिका और एक बूँद जल नायक ! बड़ा भारी Drama ड्रामा है !

३ श्रोता—हो सकता है कि इसमें कोई Moral मॉरल हो। नीतिकी कोई बात जान पड़ती है।

४ श्रोता—नहीं जी, यह एक तरहकी Tragedy ट्रेजिडी है।

५ श्रोता—Tragedy ट्रेजिडी है या एक Farce फार्स है ?

६ श्रोता—Farce फार्स है या किसीको लक्ष्य करके उपहास किया गया है ?

७ श्रोता—यह नहीं है। इसका अर्थ गूढ़ है। मुझे यह परमार्थ-विषयक काव्य जान पड़ता है। 'वासना' या 'तृष्णा' इसका नाम रक्खा जा सकता था। जान पड़ता है, ग्रंथकार उतना खुलना नहीं चाहते।

८ श्रोता—यह एक रूपक है। मैं इसका अर्थ करूँगा।

९ श्रोता—अच्छा ग्रन्थकार ही न कहें, क्या है ?

ग्रन्थकार—यह तुम्हारे अनुमानोंमेंसे कुछ नहीं हैं। मैं इसका अँगरेजीमें टाइटिल Title दूँगा—

" A true and faithful account of a lamentable Tragedy which occurred in a flower-pot on the evening of the 19th July, 1885 Sunday, and of which the writer was an eye-witness. "